हिन्दू समाज का नव-निर्माण

आचार्य चतुरसेन

प्रभात प्रकाशन
२०५, चावड़ी बाजार, दिल्ली–६

अपनी बात

आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करना जातियों के जीवन का चिह्न है। जो जातियाँ इससे विमुख होकर रूढ़ियों की गुलाम हो जाती हैं उनका क्रमशः नाश होता है।

प्राचीन आर्यों के इतिहास को देखकर आज हम समझ सकते हैं कि उन्होंने समय-समय पर किस प्रकार आधुनिकता का प्रतिनिधित्व किया था। वे अपने काल में जीवन को स्पर्श करने वाली संस्कृति का निरन्तर निर्माण करते रहे। इसके लिए उन्हें अपने विचार, विश्वास, क्रियाकलाप भाषा और सिद्धान्तों तक को बदलना पड़ा। उन्होंने धर्म के तत्त्व को ठीक-ठीक समझ लिया था। धर्म वह नहीं है जो मनुष्य को रूढ़ि की गुलामी में कसकर बाँधे। धर्म वह है जो जीवन को प्रवाहित करे, आप्यायित करे और उसे अमरत्व प्रदान करे।

यह तो स्पष्ट है कि उन्हीं महापुरुषों की बदौलत हिन्दू जाति को अमरत्व प्राप्त हुआ था। उसी अमरत्व की बदौलत यह बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों को पार करके भी न केवल जीवित ही रही—अपितु आज के सांस्कृतिक विश्व में अपना गुरुपद रखती है।

परन्तु जीवन केवल इतना ही नहीं है कि कोई सांस्कृतिक जगत के गुरुपद ही स्थापित करके कर्तव्य की इतिश्री समझे। सबसे बड़ी आवश्यकता अपने जीवन में परिपूर्ण होने की है। आज हिन्दू अपने जीवन में परिपूर्ण नहीं हैं, वे बुरी तरह खोखले खोल हो रहे हैं। विचारों ने विश्वासों का, कर्तव्य ने अधिकार मद का, प्रगति ने रूढ़िवाद का, विवेक ने हठ का और साहस ने कपटता का स्थान ग्रहण कर लिया है। आज सम्पूर्ण हिन्दू-जाति एक ढहे हुए महल के मलबे के [illegible] कीमती साज और अन्य बहुमूल्य पदार्थ दबे पड़े हैं।

हिन्दू राष्ट्र के नव-निर्माण के सम्बन्ध में हमें केवल एक ही बात कहनी है—वह यह कि यदि हिन्दू जीवित रहना चाहते हैं तो वे अपने सामूहिक जीवन को प्रगतिशील बनायें और क्रियात्मक रूप में आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करें।

आज हिन्दू-राष्ट्र को भारतीय राष्ट्र के रूप में परिणित हो जाने की आवश्यकता है; यदि वह जल्द-से-जल्द यह न करेगा तो निकट भविष्य में उसका विनाश निश्चित है।

भारत हिन्दुओं का है, यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक ठीक है कि हिन्दू भारत के हैं। उनका भारत में बहुमत है, बहुबल है। उनकी संस्कृति आज भी भारत को ओतप्रोत कर रही है। यह उनके पक्ष में बहुत बड़ी सुविधा है। अब यदि वह अपने रूढ़िवाद को, कट्टरता को, साम्प्रदायिक गुलामी को त्यागकर ऐसा साहसिक कदम बढ़ाती है कि अल्पसंख्यक जातियाँ उसमें लीन हो जायें और भारतीय जन बल एकीभूत हो जाय—तो भारत के भाग्य खुल जायें। भारत फिर न केवल एशिया का, प्रत्युत् विश्व का नेतृत्व करेगा—धर्म, नीति और संस्कृति तीनों में।

चतुरसेन

विषय-सूची

क्रम	पृष्ठ
१. हमारा गौरवमय अतीत	१
२. कर्तव्य पथ	३०
३. राष्ट्र का नव-निर्माण	४२
४. जाति-पाँति का विनाश	५१
५. धार्मिक-क्षेत्र में पाखण्ड का नाश	६१
६. अस्पृश्यता-त्याग	८४
७. कुशिक्षा का बहिष्कार	९२
८. स्वभाषा, स्वभाव और स्वदेश	१०८
९. साम्यवाद नहीं, समसहयोग की भावना	११८
१०. आत्म विश्वास	१२९
११. नारी जाग्रति	१४३
१२. वेश्या बहनों के प्रति कर्तव्य-बोध	१५३
१३. परजीवियों को नष्ट कर दो	१६५
१४. कुप्रथाओं व रूढ़ियों का नाश	१८५
उपसंहार	२११

हिन्दू राष्ट्र के नव-निर्माण के सम्बन्ध में हमें केवल एक ही बात कहनी है—वह यह कि यदि हिन्दू जीवित रहना चाहते हैं तो वे अपने सामूहिक जीवन को प्रगतिशील बनायें और क्रियात्मक रूप में आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करें।

आज हिन्दू-राष्ट्र को भारतीय राष्ट्र के रूप में परिणित हो जाने की आवश्यकता है; यदि वह जल्द-से-जल्द यह न करेगा तो निकट भविष्य में उसका विनाश निश्चित है।

भारत हिन्दुओं का है, यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक ठीक है कि हिन्दू भारत के हैं। उनका भारत में बहुमत है, बहुबल है। उनकी संस्कृति आज भी भारत को ओतप्रोत कर रही है। यह उनके पक्ष में बहुत बड़ी सुविधा है। अब यदि वह अपने रूढ़िवाद को, कट्टरता को, साम्प्रदायिक गुलामी को त्यागकर ऐसा साहसिक कदम बढ़ाती है कि *अल्पसंख्यक जातियाँ उसमें लीन हो जायें और भारतीय जन बल एकीभूत हो जाय*—तो भारत के भाग्य खुल जायें। भारत फिर न केवल एशिया का, प्रत्युत् विश्व का नेतृत्व करेगा—धर्म, नीति और संस्कृति तीनों में।

चतुरसेन

विषय-सूची

क्रम	पृष्ठ
१. हमारा गौरवमय अतीत	१
२. कर्तव्य पथ	३०
३. राष्ट्र का नव-निर्माण	४२
४. जाति-पाँति का विनाश	५९
५. धार्मिक-क्षेत्र में पाखण्ड का नाश	६१
६. अस्पृश्यता-त्याग	८४
७. कुशिक्षा का बहिष्कार	६२
८. स्वभाषा, स्वभाव और स्वदेश	१०८
९. साम्यवाद नहीं, समसहयोग की भावना	११८
१०. आत्म विश्वास	१२६
११. नारी जाग्रति	१४३
१२. वेश्या बहनों के प्रति कर्तव्य-बोध	१५३
१३. परजीवियों को नष्ट कर दो	१६५
१४. कुप्रथाओं व रूढ़ियों का नाश	१८५
उपसंहार	२११

हमारा गौरवमय अतीत

ज्ञान, धर्म, स्वाधीनता और सभ्यता का सर्वप्रथम आलोक भारत में उदय हुआ था। आज जो अंधेरी रात फैल रही है, इससे पूर्व भारत महान् आलोकमय दिवस का आनन्द ले चुका है, वैसा आनन्द ! जैसा आज योरोप और अमेरिका के चरम विकास को भी प्राप्त नहीं है।

कहना असम्भव है कि कब वह आलोक उदय हुआ था ? उस प्राचीनतम काल का इतिहास नहीं है। पाश्चात्य पण्डित कहते हैं कि अब से आठ-दस हजार वर्ष पूर्व ऋग्वेद की आदि सभ्यता प्रकट हुई थी। पृथ्वी पर सर्व-प्रथम ऋग्वेद ने एकेश्वर-वाद का कीर्तन किया है। प्रसिद्ध जर्मन पण्डित शोपनहार ने लिखा है कि "मनुष्य के ज्ञान के चरमोत्कर्ष से वेद रूपी फल उत्पन्न हुए हैं, उन्नीसवीं शताब्दी ने यूरोप को जो उपहार दिये हैं उनमें सबसे श्रेष्ठ 'उपनिषद्' हैं। इनके पाठ करने से इस जीवन में भी शान्ति मिलती है और मृत्यु के बाद भी शान्ति मिलती है।"

पण्डित मैक्समूलर ने लिखा है कि—"भारत का वेदान्त सर्वोत्कृष्ट दर्शन है।" डेविस साहब का कथन है कि "कपिल का

दर्शन ही पृथ्वी का सर्व प्रथम दर्शन है—मैं कौन हूँ, मेरा भविष्य क्या है, पृथ्वी की सृष्टि किस प्रकार हुई ? केवल युक्ति द्वार इन सब गुरुतर प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न संसार में सबसे प्रथम कपिल ने किया है।" फरांसीसी विद्वान् दार्शनिक कुंजे ने लिखा है कि "भारत के दर्शन में ऐसा गम्भीर सत्य भरा हुआ है कि पाश्चात्य पण्डित इतनी गम्भीर गवेषणा कर चुकने पर जिस तत्व को समझ सके हैं उसे दर्शनकार के मुख से सत्य अन्वेषित पाया है। पाश्चात्य विद्वानों में इस दर्शन की खोज से आगे बढ़ने की शक्ति नहीं है। हम लोग भारत के दर्शन के सम्मुख सिर झुकाते हैं, हम लोग यह बात स्वीकार करने पर बाध्य हैं कि सर्वश्रेष्ठ दर्शन मानव जाति के शैशव-क्षेत्र पूर्वी प्रदेश में ही उत्पन्न हुआ है।"

गौतम ने सबसे प्रथम न्याय की रचना की थी। उसके पीछे ग्रीक लोगों ने उसकी उन्नति की, जो हिन्दू न्याय-शास्त्र की निगमन प्रथा से इतनी मिलती है कि आश्चर्य होता है।

ज्योतिष और गणित सभ्यता की वे योग्यताएँ हैं जिन्हें संसार की श्रेष्ठतर योग्यता कहा गया है। इस योग्यता में भारत बहुत प्राचीन काल से पण्डित रहा है।

ऋग्वेद जो संसार की सबसे प्रथम पुस्तक समस्त पाश्चात्य विद्वानों ने मान ली है, उसमें ज्योतिष के सूक्ष्म तत्व लिखे हैं। वर्ष को १२ चन्द्र मासों में बाँटना और चान्द्र-वर्ष सौर-वर्ष से मिलाने के लिए एक तेरहवाँ अर्थात् अधिक मास प्रति ३ वर्ष में जोड़ देना (१, २५, ८), वर्ष की ऋतुओं के नाम (२, २६), नक्षत्रों के हिसाब से चन्द्रमा की स्थिति का उल्लेख (६, ३, २०), [illegible] है। और (१०, ८५, १३ में) नक्षत्रों की कुछ राशि

के नाम भी दिये गये हैं। यह अत्यन्त प्राचीन वैदिक काल की योग्यता थी।

वेद के पीछे के ग्रन्थों में हमें ज्योतिष का और भी विस्तृत वर्णन मिलता है। (तैत्तिरीय ब्राह्मण ४—५ और शुक्ल यजुर्वेद ३०, १०, २०) तथा श्याम यजुर्वेद में २८ नक्षत्रों के नाम दिये गये हैं। शतपथ ब्राह्मण (२, १, २) में नक्षत्रों के सम्बन्ध से चन्द्रमा की स्थिति का गम्भीर मनोहारी वर्णन है।

आज से ७० वर्ष पूर्व कोलब्रुक साहब ने जो यूरोप के सबसे पहले निरपेक्ष खोजी थे, अपनी पक्षपात-रहित सम्मति ज्योतिष के सम्बन्ध में दी है। वे लिखते है—

"यूनानियों ने इस शास्त्र के मूल तत्वों को जिस शताब्दी में सीख लिया था, उसके उपरान्त ही की शताब्दी में हिन्दुओं ने इसमें विशेष उन्नति प्राप्त करली थी। हिन्दुओं को गणित अंक लिखने का ज्ञान था। परन्तु यूनानियों में इसका अभाव था।...... ...उनके पंचाग सूर्य और चन्द्रमा के अनुसार होते थे। उन लोगों ने चन्द्र और सूर्य की गति को ध्यानपूर्वक जान लिया था और ऐसी सफलता प्राप्त की थी कि उन्होंने चन्द्रमा का जो युति भगण निश्चय किया है वह यूनानियों की अपेक्षा अत्यधिक शुद्ध है............उन्होने अपने सामाजिक पंचांग के निश्चित करने में सूर्य और चन्द्रमा के सहित वृहस्पति का काल ६० वर्षों के प्रसिद्ध चक्र के रूप में रक्खा है।"

पाटलीपुत्र का आर्य भट्ट बीजगणित और ज्योतिष का प्रथम हिन्दू आचार्य है। उन्होंने ज्योतिष पर आर्य भट्टीय ग्रन्थ लिखा जिसे डाक्टर कर्न ने विश्व पर प्रकट किया। इस आचार्य ने पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने के सिद्धान्त तथा सूर्य और

चन्द्र-ग्रहणों के सच्चे कारणों को सर्वोह् को ५वीं शताब्दी में बता दिया था, जब कि समस्त पाश्चात्य जगत अन्धकार में था।

आर्य भट्ट का उत्तराधिकारी वराह मिहिर अवन्ती का आचार्य था। उसने अपनी प्रसिद्ध पंच-सिद्धान्तिका में पाँच प्राचीन ज्योतिष सिद्धान्तों पर संकलन किया है। इसी ने विश्व विश्रुत ग्रन्थ बृहत्संहिता भी लिखी है, जिसमें १०६ अध्याय हैं।

ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य भी ज्योतिष के महापण्डित हैं। भास्कराचार्य के ग्रन्थ में ऐसे प्रश्न हल किये गये हैं जो १८ वीं शताब्दी तक योरोप में हल नहीं किये गये थे।

चिकित्सा-शास्त्र भी सर्वप्रथम भारत में प्रणीत हुआ। चरक और सुश्रुत भारत के अतीत गौरव की घोषणा कर रहे हैं। अरब निवासियों ने उनके अनुवाद कराये और यह विद्या सीखी। योरोप सत्रहवीं शताब्दी तक अरब का शिष्य रहा। प्राचीन आयुर्वेद के ग्रन्थों में १२७ प्रकार के चीर-फाड़ के यन्त्रों का वर्णन है। डाक्टर रायली ने लिखा है—"वास्तव में यह बड़ी विस्मयकारी बात है कि उस समय के चिकित्सक गुर्दे की पथरी को काट कर बाहर निकाल सकते थे और यन्त्रों से पेट के मरे बच्चों को निकाल लेते थे।"

मृत शरीरों पर ऐसे लेप लगाना जिससे देह हजारों वर्ष रह सके, भारतवासियों को ज्ञात था।

संगीत की माता भारत भूमि है। सरस्वती की वीणा अमर हो गई है। ऋषिगणों ने सामवेद के काल से संगीत-चर्चा प्रारम्भ की थी। हिन्दुओं ने ईसवी सन् से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व सप्त स्वरों का पृथक्करण और नामकरण किया था। ये

सप्त स्वर भारत से फारस, फारस से अरब और ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोप पहुंचे थे ।

मसीह के जन्म से पूर्व के साँची के बौद्ध स्तूप और की गुफाएं संसार के यात्रियों की दृष्टि में भारत के प्राचीन नैपुण्य के प्रति विस्मय उत्पन्न करती है । प्राचीन शिल्पि बनाई हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि की पत्थर की मूर्तियों कर फर्गूसन साहब ने लिखा है कि "ऐसी सुन्दर मूर्तियां के और किसी भाग में नहीं पाई जाती ।"

ये बातें हमारी विद्या सम्बन्धी योग्यताएँ है । मैं इस त्मिक तत्वज्ञान को इस समय छोड़े देता हूँ जिससे प्रति करने का घमण्डी यूरोप ने आज तक भी साहस नही और अपने पूरे यौवन के समय में जिसका अनम्र मस्त मार कर जिसके सम्मुख झुकता रहा है। मैं केवल शिल्प, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन और साहित्य की तरफ संकेत करूँगा ।

हमें खेद है कि शिल्प एक ऐसी कला है जिसका सम्बन्ध स्थूल आँखों से है और जिसके नमूनों पर काल का पूरा प्रभुत्व है । इसलिए हम करोड़ों वर्ष पुराने वैदिक काल के शिल्प के नमूने नहीं दे सकते जिनका गम्भीर वर्णन ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्रों में जहाँ-तहाँ है । हम केवल उन्हीं आधारों पर चल सकते हैं जो लगभग दो हजार वर्ष के हैं और जिनके ध्वंसावशेषों को यूरोप के विद्वानों ने दाँतों में उँगली देकर देखा है । पत्थर की मूर्तियाँ और घर जो सबसे पुराने मिलते हैं, बौद्ध हिन्दुओं के हैं जिसका समय मसीह से लगभग २०० वर्ष पूर्व है । लोगों का कथन है कि यह विद्या भारत ने यूनान से सीखी थी, पर डाक्टर फर्ग्यूसन एक स्थान पर लिखते हैं—

"इस बात पर विचार और विस्मय होता है कि इसकी लिखावट खूब स्वदेशी है। इसमें न इजिप्ट (मिस्र) के कुछ चिह्न हैं और न यूनानी लिपि के। और न यही कहा जा सकता है कि इसमें भी कोई बात बेबिलोन या ऐसीरिया से ली गई है।"

दिल्ली में जो अद्भुत लोहे का स्तम्भ [illegible] के नि
का नमूना है। उसके सम्बन्ध में डाक्टर फर्गुसन कहते हैं—

"यह हमारी आँख खोल कर विना सन्देह बताता है
हिन्दू लोग उस समय में लोहे के इतने बड़े खम्भे बना सक
जो कि यूरोप में १८वीं सदी से पूर्व बन ही नहीं सकते थे
अब भी बहुत कम बन सकते हैं......। और यह बात भी
आश्चर्यजनक नहीं है कि १६०० वर्ष तक हवा और पान
रहकर उसमें अब तक भी जंग नहीं लगता है और उसका लि
तथा लेख अब तक वैसा ही स्पष्ट और गहरा है जैसा कि २५
वर्ष पहले बनाया गया था।"

भारत के पत्थर की कारीगरी के विषय में यह विद्वान् लो
डाक्टर कहता है—

"जब हम लोग हिन्दुओं के पत्थर के काम को पहले-पह
बुद्ध गया और तिरहुत के जंगलों में २०० से लेकर २५०
पूर्व तक देखते हैं तो हम उसे पूर्णतया भारतवर्ष का पाते है
विदेशियों के प्रभाव का कोई चिह्न नहीं है। उनसे वे भ
प्रकट होते हैं और उनकी कथा इस स्पष्ट रूप से विवि
होती है कि जिसकी समानता कम से कम भारतवर्ष में का
नहीं हुई। उसमें कुछ जन्तु—यथा हाथी, हिरन और बन्द
ऐसे बनाये गये हैं जैसे संसार के किसी देश में बने नहीं मिल

और ऐसे ही कुछ वृक्ष भी बनाये गये हैं और उनमें नक्काशी का काम इतनी उत्तमता और शुद्धता से बनाया गया है कि वह बहुत प्रशंसनीय है। मनुष्य की मूर्तियां भी यद्यपि आजकल की सुन्दरता से भिन्न हैं, परन्तु बड़ी स्वाभाविक हैं। जहाँ पर कई मूर्तियों का समूह है वहाँ पर उनका भाव अद्भुत सरलता के साथ प्रकट किया गया है। रेल्फ की नाईं एक सच्चे और कार्योपयोगी शिल्प की भाँति कदाचित् इससे बढ़कर और कोई काम नहीं पाया गया।"

प्रख्यात रामेश्वर के विशाल मन्दिर के सम्बन्ध में डाक्टर फर्ग्यूसन कहते हैं—"कोई नक्काशी उस विचार को नहीं प्रकट कर सकती जो कि लगातार ७०० फीट की ऊँचाई तक इस परिश्रम की कारीगरी को देखने से होती है। हमारे कोई गिर्जे ५०० फीट से ऊँचे नहीं हैं और सेंटपीटर के गिर्जे का मध्य भाग भी द्वारे से लेकर पूजास्थान तक केवल ६०० फीट ऊँचा है। यहाँ बगल के लम्बे दालान ७०० फीट ऊँचे हैं। वे उन फैले हुए पतले दालानों से जुड़े हुए हैं जिनका काम स्वय उनकी ही भाँति सुन्दर और उत्तम है। इनमें भिन्न-भिन्न उपायों और प्रकाश के सम्बन्ध से ऐसा प्रभाव उत्पन्न होता है जो कि निस्सन्देह भारतवर्ष में और कहीं नहीं पाया जाता। यहाँ हमें ४००० फीट तक के लम्बे दालान मिलते हैं जिनके दोनों ओर कड़े से कड़े पत्थरों पर नक्काशी की गई है। यहाँ पर परिश्रम की जो अधिकता देखने में आती है उसका प्रभाव नक्काशी के गुणों की अपेक्षा बहुत अधिक होता है और वह एक प्रकार की मनोहारता और अद्भुतता को लिये हुए एक ऐसा प्रभाव उत्पन्न करता है जो कि भारतवर्ष के किसी मन्दिर में नहीं पाया जाता।"

दक्षिण के हुल्लाविड के बड़े दोहरे मन्दिर के सम्बन्ध में उक्त डाक्टर लिखते हैं, जिसे दुर्भाग्यवश १४वीं शताब्दी में मुसलमानों की विजय ने रोक दिया था—"यदि यह मन्दिर पूरा बन गया होता तो यह एक ऐसी इमारत होती कि जिस पर हिन्दू गृह-निर्माण विद्या के प्रशंसक अपनी स्थिति लेना चाहते। निस्सन्देह इसके पेचीले और इतने भिन्न-भिन्न प्रकार के नमूनों का दृष्टान्त के द्वारा समझना असम्भव है..........। इसमें की कुछ मूर्तियों में ऐसा महान् काम हुआ है कि उसका चित्र केवल फोटोग्राफी के द्वारा ही लिया जा सकता है और सम्भवतः वह पूरब में भी मनुष्यों के परिश्रम का सबसे अद्भुत नमूना समझा जा सकता है।"

हेलेविड के मन्दिरों के विषय में फर्ग्यूसन कहते हैं—

"यदि हेलेविड के मन्दिर का इस प्रकार से दृष्टान्त देकर समझाना सम्भव होता कि हमारे पाठक उसकी विशेषता से परिचित हो जाते तो उनमें तथा ऐथेंस के पार्थिना में समानता ठहराने में बहुत ही कम वस्तुएँ इतनी मनोरंजक और इतनी शिक्षाप्रद होतीं......।"

अंग्रेज विद्वान् की यह विचारपूर्ण तथा गृह-निर्माण विद्या के सम्बन्ध में दार्शनिक सम्मति क्या हमारे भूतकालीन शिल्प पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डालती?

भारत की धरती के गर्भ में हीरे-रत्न-सोना-चाँदी बेशुमार हैं। कोहनूर भारत की सम्पत्ति है। यहाँ के वृक्ष लोहे के समान होते हैं। पहाड़ संगमरमर से, समुद्र मोतियों के ढेर से, वन चन्दन से भरे पड़े हैं, ऐसा यह भारत देश है।

एक दिन भारत का व्यापार कास्पियन सागर और भूमध्य सागर के तटवर्ती प्रदेशों में बहुतायत से फैला हुआ था। ढाके की मलमल, आसाम के रेशमी वस्त्र, हीरे, मोतियों के आभूषण, मध्य एशिया, यूरोप और अफ्रीका तक बिकने जाते थे। मसीह् की ४ थी शताब्दी पूर्व विजयी सिकन्दर की सेना को चिकित्सा को हिन्दू वैद्य नौकर थे। सोलहवीं सदी में भारतवासी अरब समुद्र पार करके अफ्रीका गये थे और ऐबीसीनिया का दुर्ग बनाया गया था। आठवीं शताब्दी में बगदाद के शाही दरबार में हिन्दू चिकित्सक नौकर थे। नील नदी के किनारों पर हिन्दुओं के उपनिवेश स्थापित हैं।

भारत का साम्राज्य-विस्तार असाधारण था। समुद्र का पुल बाँधकर लंका का दुर्जय दुर्ग विध्वंस करना अमर घटना है, पृथ्वी के इतिहास में इसकी जोड़ नहीं है। कुरुक्षेत्र के मैदान में समस्त पृथ्वी के छत्रधारियों का भारत-सम्राट् के लिए तलवार उठाना भी पृथ्वी की एकान्त कीर्ति कथा है। मसीह् से ५०० वर्ष पूर्व ग्रीक यात्री हेरोडोटस ने लिखा है कि "वर्तमान समय में समग्र पृथ्वी पर भारतवासी ही सर्वापेक्ष प्रबल है।"

मसीह् से ४०० वर्ष पूर्व प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त मगध के सिंहासन पर थे। उनके पास ६ लाख पैदल, ३० हजार सवार और ६ हजार हाथी थे। समस्त भारत उनके समय में एक-छत्री था। विजयी सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके सेनापति सेल्यूकस ने एशिया का पश्चिमांश जीत लिया था और फिर उसने भारत पर आक्रमण करने का साहस किया था। अन्त में चन्द्रगुप्त से परास्त होकर उसने अपनी कन्या उन्हें ब्याह दी

थी। मेगस्थनीज, जो चन्द्रगुप्त को राज-सभा में राजदूत
राजधानी का वर्णन करते हुए लिखता है—

"नगर की परिधि प्रायः २५ मील है। उसके चारों
एक बड़ी खाई है जो चार सौ हाथ चौड़ी और तीस हाथ
है। वहाँ से चहारदीवारी आरम्भ होकर नगर को घेरे हुए
उसमें ६४ तोरण द्वार हैं, प्राचीर पर प्रहरी गणों के लिए
चूड़ागृह बने हैं।"

चन्द्रगुप्त के १०० वर्ष बाद उनके पौत्र अशोक ने सिंह
सुशोभित किया। उन्होंने अपने वृहत्साम्राज्य को और भी विस
किया। काबुल, कन्दहार, बलख तक अपना राज्य बढ़ाया, f
मेसिडोनिया, सीरिया, साइरिनी और ऐपिरस इत्यादि देशों
राजा उनके साथ मित्र-भाव रखते थे। फाहियान ने इस
सम्राट के महलों के ध्वंस देखकर लिखा है—

"अशोक ने दैत्यों से पत्थर पर पत्थर रखवा कर ये म
बनवाये थे। उसका शिल्प-नैपुण्य मनुष्यों का नहीं मालूम ह
है!"

इनके बाद आन्ध्र वंश के और गुप्त वंश के राजाओं
उत्तर भारत का शासन किया। छठी शताब्दी में महा
विक्रमादित्य ने जन्म लिया, जिनका प्रताप आज भी अमर
सातवीं शताब्दी में बौद्ध महाराज हर्षवर्द्धन और शिलादित्य
कान्यकुब्ज के सिंहासन से पृथ्वी का शासन किया। उनके प
५० हजार हाथी थे।

समुद्र यात्राओं में भारत प्राचीन काल से प्रसिद्ध
भारतवासी सौ-सौ डाँड़ों की नौकाओं पर समुद्र में विचर
करते थे।

इसी बन्दर से एक बड़े भारी बंगाली जहाज द्वारा लंका और जावा होता हुआ चीन को गया था। एक-एक जहाज प्रायः २००-२०० व्यक्तियों को ले जाता था। उड़ीसावासी छोटे-छोटे जहाज बनाने में बड़े उस्ताद थे। जिस जमाने में हिपलस अरब-समुद्र पार करने का साहसी नहीं हुआ था, जब ग्रीस और रोम के जहाज भारत सागर में नहीं आ पाये थे, जिस समय इस्लाम ने लंका, ब्रह्मा, मलाया और सुमात्रा में उपनिवेश स्थापित नही किये थे, उसी समय से हिन्दुओं के बड़े-बड़े जहाज बंगाल की खाड़ी में घूम-घूम कर इन द्वीपों में वाणिज्य किया करते थे। बंगालियों के बने जहाज तुर्क के सुलतान चाव से खरीदा करते थे। अकबर ने भी बड़े-बड़े जहाज निर्माण कराये थे।

ऐसा यह हमारा भारत था! मेगस्थनीज लिखता है—"हिन्दू शान्त, स्थिर और शान्ति-प्रिय हैं, उत्कृष्ट कृषक हैं। ये विलास-हीनता और सत्यवादिता के लिए प्रसिद्ध हैं। ये इतने न्याय-प्रिय हैं कि कभी अदालत में नही जाते। ये इतने सच्चे और साधु हैं कि इनमें चोर हैं ही नहीं। ये रात को घर-द्वार बन्द नहीं करते। कभी एक भी हिन्दू ने झूठ नहीं बोला, कभी ये अपने अधिकार को लिपि-बद्ध नही करते। युद्ध-काल में सिपाही कभी खेती और गाँवों को हानि नही पहुँचाते। इनमें दास प्रथा नहीं है। भूमि अत्यन्त उर्वरा है, उसको अधिकांश नहरों द्वारा सींचा जाता है। यहाँ कभी अकाल नहीं पड़ता। यहाँ की रमणियाँ अत्यन्त सती हैं।"

ऐसे शान्त और आनन्द के दिनों में भारत के महर्षिगण, रम्य वनस्थलों में अपने शिष्यवर्ग और पवित्र परिवार को लेकर

शान्त गुहा में ध्यानस्थ बैठते थे। ये पवित्र तपोवन और आश्रम उन अगणित लोगों की आश्रय स्थली थे, जो अपनी ही इच्छा से विलास और ऐश्वर्य छोड़ कर केवल धर्म, ज्ञान और ईश्वर-सिद्धि में मग्न रहते थे। देश के राजा लोग बहुधा यहाँ आकर राजमहिषी सहित साधारण तपस्वियों की तरह महीनों रहते, गाय चराते, समिधा बीनते और तप करते थे। अगणित प्राणी इन तपोवनों में उन तपोनिष्ठ ऋषियों के तेजोमय सान्निध्य में ब्रह्म की उपासना करने आते थे।

प्रख्यात चीनी यात्री फाहियान ४०० ईस्वी के लगभग भारत में आया। वह भारत के गौरव का वर्णन काबुल (चमन) से प्रारम्भ करता है—उसने काबुल, कन्दहार, तक्षशिला और पेशावर में मध्य भारत की भाषा-वेश देखा-सुना था। और यहीं उसने ५०० बौद्ध-संन्यासियों के मठ देखे थे। यहाँ से आकर वह मध्य भारत में पहुँचा जिसके सम्बन्ध में वह लिखता है कि "इस देश का जलवायु गर्म और एक-सा है। न तो यहाँ पाला पड़ता है और न बर्फ। यहाँ के लोग बहुत अच्छी अवस्था में हैं—उन्हें राज-कर नहीं देना पड़ता और न राज्य की ओर से उन्हें कोई रोक-टोक है। केवल जो लोग राजा की भूमि को जोतते हैं, उन्हें भूमि की उपज का कुछ अंश देना पड़ता है। वे जहाँ जाना चाहें जा सकते हैं और जहाँ रहना चाहें रह सकते हैं। राजा शारीरिक दण्ड नहीं देता। अपराधियों को उनकी के अनुकूल हलका या भारी जुर्माना लगाया जाता है। यदि कई बार राजद्रोह करते हैं तो भी केवल उनका एक हाथ काट जाता है। सैनिक नियत वेतन पाते हैं। सारे देश में केवल चाण्डालों को छोड़ कर कोई लहसुन या प्याज नहीं खाता।

कोई किसी जीव को नहीं मारता और मदिरा नहीं पीता। बाजार में मदिरा की दूकानें नहीं हैं। कोई पशु का व्यापार नहीं करता......।"

आगे वह पाटलीपुत्र के धर्मार्थ चिकित्सालयों का वर्णन करता है—

"इस देश के गरीब लोग, जिन्हें आवश्यकता हो, जो लंगड़े हों या रोग-ग्रस्त हों, वहाँ रह सकते हैं। वहाँ वे उदारता से सब प्रकार की सहायता पाते हैं। चिकित्सक उनके रोगों की देख भाल करता है और रोग के अनुसार खाने-पीने, दवा-दारू और सब प्रकार के सुखों की व्यवस्था करता है। आरोग्य होने पर इच्छानुसार चाहे जहाँ जा सकते हैं।"

इसके अनन्तर अब हम एक ऐसे प्रतापी राजा को स्मरण करते हैं जिसकी हड्डियों को ठण्डा हुए आज १३०० वर्ष का दीर्घ काल व्यतीत हो गया है और जिसके राज्य में सुख, शान्ति, विद्या, विज्ञान और हिन्दू हृदय के विकास का इतना उत्थान हुआ था कि जिसका साम आज तक नहीं हुआ है और जो वास्तव में अपूर्व है।

इस महान् राजा का नाम विक्रमादित्य था। यह एक वीर और स्वदेशानुरागी, युद्ध का विजयी, पुनर्जीवित होते हुए हिन्दू धर्म का संरक्षक, आधुनिक संस्कृत-साहित्य में जो सब उत्तम सुन्दर बातें हैं उनका केन्द्र—सैकड़ों कथाओं का नायक है।

विद्वानों और अपढ़ लोगों के लिए, कवि या कहानी वालों के लिए, बूढ़ों और बच्चों के लिए उसका नाम ऐसा परिचित है कि जैसे उसे मरे कल का दिन बीता है।

इस राजा के नाम के साथ ही जिसकी सभा में कवि-कु

गुप्त कालिदास थे, हिन्दू विद्वानों के हृदय में शकुन्तला और उर्वशी की कोमल मूर्ति का उदय हो उठता है, जो कवित्व की उत्कृष्ट और उत्तेजक कल्पना है। हिन्दू ज्योतिषियों के हृदय में वराहमिहिर का स्मरण और कोषकारों के हृदय में अमरसिंह का सम्मान उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। और ये सब बातें विक्रमादित्य के प्रताप के लिए मानो काफी न होने के कारण सैकड़ों कहानियाँ उसके नाम को अपढ़ और सीधे-साधे लोगों से परिचित कराती हैं। आज भी गाँव के रहने वाले लोग पीपल के वृक्ष के नीचे यह कथा सुनने के लिए एकत्रित होते हैं कि उन बोलने वाली पुतलियों ने जो कि इस बड़े सम्राट् के सिंहासन को उठाये हुए थीं, किस प्रकारउसके उत्तराधिकारी की आधीनता स्वीकार नहीं की और उनमें से प्रत्येक ने विक्रम के प्रताप की एक-एक कथा किस प्रकार कह-कह कर प्रस्थान किया। प्रत्येक ग्रामीण पाठशाल के छोटे-छोटे बालक भारतवर्ष में अब तक आश्चर्य और चाव से पढ़ते हैं कि इस साहसी विक्रम ने अन्धकार और भय के दृश्यों के बीच एक प्रबल बेताल के ऊपर प्रभुत्व पाने का प्रयत्न किया और अन्त में उसने अजेय वीरता, कभी न डिगने वाली बुद्धि और कभी न चूकने वाले साहस और आत्म-निर्भर के कारण किस प्रकार सफलता प्राप्त की।

यह वह वीर था जिसने भारत के भयंकर आक्रमणकारी शक लोगों को अपने अदम्य पराक्रम से पराजित करके भगाया था। उत्तरी भारत सैकड़ों वर्षों तक आक्रमण करने वालों से पीड़ित था, लेकिन उसके काल में शांति के साथ ही साथ शिल्प की वृद्धि हुई। राजाओं के दरबार तथा बड़े-बड़े नगर विलास, धन, बड़े व्यापार और शिल्प के केन्द्र हो गये। विज्ञान ने
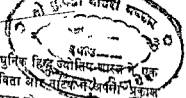
अपना सिर उठाया और आधुनिक हिन्दू ज्योतिष शास्त्र में एक नई उन्नति प्राप्ति की। कविता और नाटक ने अपना प्रकाश फैलाया और वे हिन्दुओं के हृदय को प्रसन्न करने लगे।

इस प्रतापी सम्राट् के करीब १०० वर्ष पीछे अर्थात् सन् ६२६ ई० में एक और चीनी यात्री भारत में आया। उसका नाम हुएनसांग था। वह जिला जलालाबाद की पुरानी राजधानी नगरहार का वर्णन करता है—"नगर का घेरा ४ मील का था। इस नगर में अन्न और फल बेशुमार है, यहाँ के लोग सीधी चाल के, सरल, उत्साही और वीर हैं।"

हुएनसांग शतद्रु (सतलज) के राज्य से बड़ा प्रसन्न हुआ था। उसके विषय में वह लिखता है कि यह राज्य ४०० मील के घेरे में है। राजधानी का घेरा ३॥ मील है। इस देश में अन्न, फल, सोना, चाँदी और रत्न बहुतायत से हैं। यहाँ के लोग चमकीले रेशम के बहुमूल्य और सुन्दर वस्त्र पहनते हैं। उनके आचरण नम्र और प्रसन्न करने वाले हैं—ये पुण्यात्मा हैं।

मथुरा के देश का घेरा १००० मील है और मुख्य नगर का ४ मील है। यहाँ की भूमि अत्यन्त उपजाऊ है और इस देश में रुई और स्वर्ण बहुत होता है। लोगों के आचरण नम्र और सुशील हैं। वे पुण्यात्मा हैं और विद्यार्थियों का सत्कार करते हैं।

स्रुघ्न (उत्तरी द्वार) का राज्य जिसके पूर्व में गंगा और उत्तर में हिमालय है, १२०० मील के घेरे में है। गंगा अपूर्व नदी है। इसकी लहरें समुद्र की भाँति विस्तृत हैं।

स्थानेश्वर और हरिद्वार का आश्चर्यजनक वर्णन कर आगे चलकर यह यात्री कन्नौज के राज्य का वर्णन करता है—

राज्य का घेरा ८०० मील है और सम्पन्न राजधानी ४ मील लम्बी और १ मील चौड़ी है। नगर के चारों ओर खाई है और भीतर अत्यन्त दृढ़ पत्थर के आकाशचुम्बी बुर्ज हैं। चारों ओर कुञ्ज, तालाब, फूल आदि दर्पण की तरह स्वच्छ और रम्य हैं। वाणिज्य की बहुमूल्य वस्तुओं के ढेर बाजार में भरे हैं। लोग सुखी और सन्तुष्ट हैं, पर, धन-सम्पन्न और सुदृढ़ हैं। फूल-फल बेशुमार हैं। भूमि जोती और बोई जाती है और उसकी फसल समय पर काटी जाती है।

लोग सच्चे, उदार, सज्जन और कुलीन जान पड़ते हैं। वे कामदार चमकीले वस्त्र पहनते हैं। वे बड़े विद्या-व्यसनी हैं और धर्म-सम्बन्धी विषयों पर भारी शास्त्रार्थ करते हैं"'।

यह यात्री कन्नौज के तत्कालीन प्रतापी राजा शिलादित्य द्वितीय का अतिथि बना और उसने उसका बहुत सत्कार किया। इस बली राजा के पास ५ हजार हाथी, २०००० सवार और ५०००० पल्टन की स्थायी सेना थी और उसने समस्त पंजाब को ६ वर्ष में विजय किया था।

इसी चीनी यात्री के समक्ष शिलादित्य ने एक बड़ी धार्मिक सभा की थी जिसमें उसने २० देशों के राजाओं को अपने-अपने देश के विद्वान्-ब्राह्मण और बौद्ध भिक्षुओं को तथा प्रसिद्ध-प्रसिद्ध . नकर्ताओं और सैनिकों सहित एकत्रित होने की आज्ञा दी । उस ठाठदार सभा और उत्सव का वर्णन वह विदेशी इन शब्दों में करता है—

"संघाराम से लेकर राजा के महल तक सब स्थान तम्बुओं और गानेवालों के खेमों से सज्जित थे। बुद्ध की एक छोटी मूर्ति एक बहुत ही सजे हुए हाथी के ऊपर रखी जाती थी और शिला-

शिल्य इन्द्र की भाँति और कामरूप का राजा उसकी दाहिनी ओर पाँच-पाँच सौ युद्ध के हाथियों की रक्षा में चलता था। शिलादित्य चारों ओर मोती और अन्य रत्न तथा सोने-चाँदी के फूल फेंकता जाता था। मूर्ति को स्नान कराया जाता था और शिलादित्य उसे स्वयं अपने कन्धे पर रखकर पश्चिम के बुर्ज पर ले जाता था। उसे रेशमी वस्त्र पहना कर रत्न-खचित आभूषण पहनाये जाते थे। इसके उपरान्त भोजन होता था और तब सब लोग एकत्र होकर शास्त्रार्थ करते थे। सन्ध्या समय राजा अपने भवन में चला जाता था।"

इलाहाबाद के सम्बन्ध में वह कहता है कि इस राज्य का घेरा १००० मील है। पैदावार बहुत है और फल बेशुमार हैं। लोग सुशील और भलेमानुस हैं, बड़े विद्यानुरागी हैं। यह यात्री हमारे महान् अक्षयवट का भी जिक्र करता है। आज हमें देखने के लिए उस भाग्यशाली वृक्ष का ध्वंसावशेष बचा है।

आगे चलकर यह यात्री बनारस का जिक्र करता है। वह कहता है—

यह नगर हिन्दू-धर्म का स्तम्भ है। राज्य का घेरा ८०० मील है और राजधानी लगभग ४ मील लम्बी और एक मील चौड़ी है। गृहस्थ लोग खूब धनाढ्य हैं। उनके घर बड़ी-बड़ी बहुमूल्य वस्तुओं से भर रहे हैं। लोग कोमल और दयालु हैं और विद्याध्ययन में लगे रहते हैं।

नगर में २० देव-मन्दिर हैं जिनके बुर्ज और दालान नक्काशीदार पत्थर और लकड़ियों के बने हैं, जिन पर अद्भुत कारीगरी का काम है। इसके बाद वह वैशाली, उज्जैन, पाटलीपुत्र, गया आदि का चमत्कारिक वर्णन करके प्रख्यात राजा बिम्बसार की

राज्य का घेरा ८०० मील है और सम्पन्न राजधानी ४ मील लम्बी और १ मील चौड़ी है। नगर के चारों ओर खाई है और भीतर अत्यन्त दृढ़ पत्थर के आकाशचुम्बी बुर्ज हैं। चारों ओर कुञ्ज, तालाब, फूल आदि दर्पण की तरह स्वच्छ और रम्य हैं। वाणिज्य की बहुमूल्य वस्तुओं के ढेर बाजार में भरे हैं। लोग सुखी और सन्तुष्ट हैं, घर, धन-सम्पन्न और सुदृढ़ हैं। फूल-फल बेशुमार हैं। भूमि जोती और बोई जाती है और उसकी फसल समय पर काटी जाती है।

कारण शासन-रीति सरल है। राज्य चार मुख्य भागों में बँट
है। एक भाग राज्य-प्रबन्ध चलाने तथा यज्ञादि के लिये है
दूसरा मन्त्री और प्रधान राज्य-कर्मचारियों की आर्थिक सहायत
के लिये। तीसरा भाग बड़े-बड़े योग्य मनुष्यों के पुरस्कार के लि
और चौथा भाग धार्मिक लोगों को दान के लिये जिससे कि वृ
होती है। इस प्रकार से लोगों के कर हल्के हैं और उनसे शारी
रिक सेवा थोड़ी ली जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी सांसारि
सम्पत्ति को शांति के साथ रखता है और सब लोग अपने निर्वा
के लिये भूमि जोतते-बोते है। जो लोग राज की भूमि जोतते
उन्हें उपज का छठा भाग कर की भाँति देना पड़ता है
व्यापारी लोग जो वाणिज्य करते हैं अपना लेन-देन करने
लिये आते-जाते हैं। नदी के मार्ग तथा सड़क बहुत थोड़ी चु
देने पर खुले हैं। जब कभी राज्य के काम के लिये लोगों
आवश्यकता होती है तो उनसे काम लिया जाता है और मजू
दी जाती है। जितना काम होता है ठीक उतनी मजू
होती है।

"सैनिक लोग सीमा प्रदेश की रक्षा करते हैं और उपद्र
लोगों को दण्ड देने के लिये भेजे जाते हैं। वे रात्रि को सव
होकर राज-भवन के चारों ओर पहरा भी देते हैं। सैनिक लो
कार्य की आवश्यकता के अनुसार रखे जाते हैं। उन्हें कुछ द्र
देने की प्रतिज्ञा की जाती है। और प्रकट रूप से उनका ना
लिखा जाता है। शासकों, मन्त्रियों, दण्डनायकों तथा कर्मचारि
को उनके निर्वाह के लिये भूमि मिलती है।

"सब लोग स्वभावत: ओछे हृदय के नहीं होते—वे सच
और आदरणीय होते हैं। धन सम्बन्धी बातों में वे निष्कपट औ

न्याय करने में गम्भीर होते हैं। ये लोग दूसरे जन्म में प्रतिफल पाने से डरते हैं और इस संसार की वस्तुओं को तुच्छ समझते हैं। ये लोग धोखा देने वाले छली नहीं।"

यही सच्ची सम्मति मेगस्थनीज के समय से लेकर सब विचारवान् यात्रियों की रही है जिन्होंने कि हिन्दुओं को उनके घरों और गांवों में देखा है और जो उनके नित्य कर्मों और प्रतिदिन के व्यवहारों में सम्मिलित हुए हैं।

ऐसा यह हमारा भारत था! मेगस्थनीज लिखता है—हिन्दू शान्त, स्थिर और शान्ति-प्रिय हैं, उत्कृष्ट कृषक हैं। वे विलास-हीनता और सत्यवादिता के लिये प्रसिद्ध हैं। वे इतने न्याय-प्रिय हैं कि कभी अदालत में नहीं जाते। वे इतने सच्चे और साधु हैं कि उनमें चोर हैं ही नहीं, वे रात को घर-द्वार बन्द नहीं करते। कभी एक भी हिन्दू ने झूठ नहीं बोला, कभी वे अपने अधिकार को लिपि-बद्ध नहीं करते। युद्ध-काल में सिपाही कभी खेती और गाँवों को हानि नहीं पहुँचाते। इनमें दास प्रथा नहीं है। भूमि अत्यन्त उर्वरा है, उसका अधिकांश नहरों द्वारा सींचा जाता है। यहाँ कभी अकाल नहीं पड़ता। यहाँ की रमणियाँ अत्यन्त सती हैं।

ऐसे शान्त और आनन्द के दिनों में भारत के महर्षिगण, रम्य वनस्थली में अपने शिष्यवर्ग और पवित्र परिवार को लेकर शान्त मुद्रा से ध्यानस्थ बैठते थे। वे पवित्र तपोवन और आश्रम उन असंख्य लोगों की आश्रय स्थली थे जो अपनी ही इच्छा से विलास-ऐश्वर्य छोड़ कर केवल धर्म, ज्ञान और ईश्वर-सिद्धि में रहते थे। देश के राजा लोग बहुधा वहाँ जाकर राजमहिषी . साधारण तपस्वियों की तरह महीनों रहते, गाय चराते,

समिधा बीनते और तप करते थे। असंख्य प्राणी इन तपोवनों में उन तपनिधान ऋषियों के तेजोमय चरणों में बैठ कर अगम्य आध्यात्म और महान् समाज-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करते थे।

कहाँ गये वे दिन ? वे अमर दिन ? ये दग़ाबाज दिन और यह पाप गुलामी की आँधी कहाँ से उमड़ आई ? कब तक रहेगी ? वह यशस्वी हिन्दू जाति अब क्या फिर कभी कुछ प्राप्त कर सकेगी ?

जिस जाति ने पृथ्वी भर की विजयिनी जाति को जन्म दिया, जिसने जल, थल और आकाश में अपनी विजयिनी सेनाओं द्वारा पृथ्वी तल को रौंद डाला था, जिसके प्रबल प्रताप ने संसार में आतंक उत्पन्न कर दिया था और जो गत ७०० वर्षों से कालवली के हाथों कुचली जा रही थी, आज वह जाग रही है। आज उसका प्रभात हो रहा है। उस जाति के सिर पर से अत्याचार की तलवार उतर गयी है। उसमें वह यौवन दीख पड़ने लगा है, जो किसी भी राष्ट्र में शोभा की वस्तु हो सकता है। अब इस नवयुग में प्रवेश करने से प्रथम उसे चाहिये कि वह पाखण्ड के गुलाम न रहें। दिमागी गुलामी को त्यागें और उत्साह और साहस से प्रत्येक विषय को विचारें और उस पर अमल करें।

पाखण्ड की जड़ दिमागी गुलामी है। जब कुछ स्वार्थी लोग असंख्य प्रजा को मूर्ख और असहाय इसलिये बना डालते हैं कि उनके स्वार्थों की सिद्धि होगी, तब उस जाति में अन्धविश्वास उत्पन्न होता है और यही पाखण्ड की जड़ है।

दिमागी गुलामी पाखण्ड की पुष्टि करती है। जिसके दिमाग गुलाम हैं, वे उस अच्छे-बुरे कैसे ही काम को बिना

चूँचपड़ किये करने को विवश हैं, जिनके लाभ या उपभोगों को वे न समझते है, न उसकी आवश्यकता समझते हैं।

रूढ़ियों और अन्धविश्वासों ने संसार की महान् जातियो का नाश किया है, और विजयिनी हिन्दू जाति को भी कही का न रक्खा। अब भी यदि रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के नीचे उसकी गर्दन झुकी रही, तो उसका सर्वनाश आगामी दस वर्ष में हुआ रक्खा है। और यदि वह साहसपूर्वक अपने दिमागों को स्वतन्त्र कर लें, और अन्धविश्वासों पर विजय प्राप्त करें, तो आगामी दस वर्षों मे वह जगत् की महाशक्तियों से टक्करें लेने योग्य सामर्थ्य प्राप्त कर सकती है।

यह वह युग है जब विवेक ने ढकोसलों को चीर-फाड़ डाला है, यह वह युग है कि समस्त एशिया, जो इन्हीं दोषों में फँसकर गुलामी की शताब्दियां काट चुका है, हुंकार भरकर गरज रहा है। चीन जागकर उठ खड़ा हो रहा है, तुर्किस्तान ने दिमागी गुलामी को टुकड़े-टुकड़े कर दिया है। एशिया भर मे सामूहिक और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की लहरें हिलोरें ले रही हैं। दिमागी गुलामी और पाखण्डों के लिये संसार के महान् गुरु रूस ने संसार को नया मार्ग दिखाया है। और सब प्रकार राजनीति और अर्थ शास्त्र के पंडित भलीभांति समझ गये हैं, कि आगामी दस वर्ष में दो बातें अवश्य होनी हैं, १—यूरोप का सर्वनाश हो जायगा और वह शताब्दियों तक अपने अत्याचारों का फल भोगेगा। २—एशिया पृथ्वी का समर्थ संघ होगा। एशिया की जो जाति दिमागी गुलामी, रूढ़ि, अन्धविश्वास और पाखण्ड में फँसी रहेगी वह कुचलकर नष्ट कर दी जायगी और नवीन उदार जाति उनकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होंगी। इसलिये ह

हिन्दुओं से पूछते हैं—ऐ हिन्दुओ ! क्या तुम राष्ट्रीय
अधिष्ठाता बने रहना चाहते हो ?

पहिले यह कहो—क्या तुम स्वयं कोई राष्ट्र हो
बताओ तुम्हारी राष्ट्रीयता क्या है ? क्या ब्राह्मण तुम्हारे
स्तम्भ हैं ? जो लाखों की संख्या में मूर्ख, आवारे,
चाकर, रसोइये, पानीहारे, सेवक बने दिन काटते हैं ?
और विज्ञान से जिन्हें चिढ़ है ! जो पापी, लम्पट, ज्वारी
शराबी और कुकर्मी होने पर भी प्रत्येक दशा में अपने
मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ होना अपना जन्मसिद्ध अधिकार
हैं ! या वे क्षत्रिय-कुल-कलंक तुम्हारे राष्ट्रीय स्तम्भ
शराबीपने और लुच्चपने की निर्लज्ज जिन्दगी व्यतीत करते
ग़रीब प्रजा के पसीने से हीरे-मोती खरीद कर वस्त्रों पर
और अभागी प्रजा को झुलसती लुओं में अपने भेड़िये सिप
और कर्मचारियों के भीषण अत्याचारों के सुपुर्द कर शिम
ठण्डी हवा में अधनंगी मिसों के साथ नाचने में और उनके
प्याले की शराब का एक घूँट पीने में जीवन धन्य समझ
हैं ? क्या वे वैश्य-कुल शिरोमणि तुम्हारे राष्ट्रीय स्तम
जो दिन निकलने से प्रथम गंगा में लोट मारते, आँख मों
घण्टों गोमुखी में माला गटकते, नंगे होकर मेंढक की
उछलकर चौके में भीगी बिल्ली की भाँति बैठ कर भोजन
कीड़े-मकोड़ों पर दया करते, उन्हें जिमाते तथा साढ़े
नम्बर का तिलक लगाते हैं—जो रेलगाड़ी के सिगनल की
चार कोस से ही दीखता है—परन्तु दूकान में बैठकर झूठ, जु...,
चोरी, चोरबाजारी, छल, बेईमानी, निर्दयता, कंजूसी, स्वार्थ

संखिया देते और धन को ही चचा, ताऊ, दादा, मामा, भतीजा, सब समझते हैं ?

क्या उन शूद्रों से तुम कुछ आशा कर सकते हो जो धूर्तता, मूर्खता और पशुता में नाक तक डूब गये हैं; जिन्होंने शराबखोरी, हत्या, चोरी, डाकेजनी, राहज़नी, व्यभिचार और यथासम्भव तमाम प्रकार के अपराधों के घर होकर सैकड़ों वर्ष से मनुष्यत्व का जीवन भुला दिया है, जो भेड़िये की भाँति सदैव मनुष्य का शिकार करने की ताक मे रहते हैं ?

क्या इस बिखरे हुए समाज का उद्धार इसी भाँति पड़े-पड़े हो जायगा ? ब्राह्मण अपने ब्राह्मणपने में ऐंठकर कलाबत्तू हो रहे हैं। क्षत्रिय भी अपनी ठकुरास के जोम में धरती पर पैर नहीं धरते : वैश्यों को अपने नोट और गिन्नियों ने १० बोतल शराब का नशा चढ़ा रखा है। शूद्र बदहवास अलग पड़े है।

क्या इसी अवस्था को क़ायम रखकर तुम अपना सङ्गठन कर सकते हो, एक प्रबल महाराष्ट्र बना सकते हो ?

भाइयो ! खबरदार रहो, इतिहास के पन्नों को उल्टो। देखो कि जातियाँ किस प्रकार की योग्यता प्राप्त करके पृथ्वी की शक्तियों को विजय किया करती है और किस प्रकार की ग़लतियाँ करके अपना नाश किया करती है। क्या तुम इसका उत्तर दे सकते हो कि क्यों मुट्ठी भर मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारत को रौंद डाला ? करोड़ों मर्दों से भरा हुआ देश किस प्रकार मुट्ठी भर मुस्लिम आक्रमणकारियों ने कुचल डाला, किस प्रकार चुपचाप लोग लुट गये, क़त्ल हुए, और किस आसानी से मन्दिरों का विध्वंस हुआ ; किस आपत्ति-जनक रीति से भारतवर्ष १२वीं शताब्दि से १५वीं शताब्दि के अन्त तक लगभग लावारिस माल

ाति पड़ा रहा; और अन्त में मुट्ठी भर सिपाहियों की सहा-
से, जो ईरान के शाह से हुमायूँ उधार माँग लाया था,
 भारतवर्ष में प्रबल मुग़ल-साम्राज्य क़ायम हो गया ?
आप चाहे जो कुछ इसका कारण समझें, परन्तु इसका कारण
ओं का पाखण्डपूर्ण जीवन और रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों
छिन्न-भिन्न अधमरा सामाजिक संगठन था।

क्या हम विचार कर सकते हैं कि किस प्रकार ऐसी गम्भीर,
ल और धर्मात्मा जाति आज इस क़दर पतित हो गयी है ?
 जाति ने उपनिषद् के गम्भीर तत्वों का आविष्कार किया,
हें पढ़कर एक बार प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपनहार ने कहा
—

"प्रत्येक पद से गहरे, नवीन और उच्च विचार उत्पन्न होते
 और सब में उत्कृष्ट पवित्र और सच्चे भाव वर्तमान हैं,
तीय वायुमण्डल हमें घेरे हुए है। और अनुरूप आत्माओं
नवीन विचार भी हमारी ओर हैं, समस्त संसार में मूल
थों को छोड़कर अन्य विद्याओं का अध्ययन ऐसा लाभकारी
र हृदय को उच्च बनाने वाला नहीं है जैसा कि उपनिषदों
। इसने मेरे जीवन को शान्ति दी है और यह मृत्यु के समय
 शान्ति देगा।"

क्या उपनिषद् तत्वों के ज्ञाताओं को ऐसा पतित जीवन
भा देता है ? धर्म वह वस्तु है, जिससे आत्मा की शुद्धि होती
 जिससे प्राणियों का उपकार होता है, जिससे जातियों को
वन-दान मिलता है, जिससे मर्यादा और आदर्श की रक्षा
ती है। धर्म वह है जो इस लोक और परलोक को मिलाता है।
 हज़ारों तरह के देवताओं को पूजना धर्म नहीं, पीर-पैगम्बरों

के पास स्त्रियों को भेजना धर्म नहीं, लम्बे-लम्बे तिलक लगाना भी धर्म नहीं, गोमुखी में हाथ डाल कर भगवान् को बहकाना भी धर्म नहीं, धर्म शिवाले मे नहीं, धर्म गङ्गा में नहीं, मन्दिर में नहीं, धर्म-पुस्तकों में नहीं, हृदय के भीतर है।

इसकी कोई परवाह न करो कि तुम कम पढ़े-लिखे हो। यदि तुम्हारे हृदय में पवित्रता है; यदि तुम सत्य के व्रती हो, जो बात तुम्हारे मन में है, वही जबान पर है, वही कर्म में है, तो तुम सत्यवादी हो। यदि तुम अपने नौकरों, बच्चों, स्त्रियों, पड़ोसियों और स्वयं अपने ऊपर दया और प्रेम करते हो, सुखी और सन्तुष्ट रहते हो, वासना के गुलाम नहीं हो, तो तुम धर्मात्मा हो। बड़े-बड़े दान देना धर्म नहीं, वासना का त्याग करना धर्म है।

पाखण्ड वह चीज़ है कि हृदय में कुछ और हो, पर करते कुछ और हो। यह पाखण्ड ही पाप है। तुम्हारे पास एक आसामी *रुपया कर्ज लेने आया है, मुसीबत का मारा है, यदि तुम भीतर* ही भीतर यह देखकर प्रसन्न होते हो कि रुपये का माल दो आने में दे जायगा और ऊपर से उससे सहानुभूति दिखाकर मीठी बातें बनाते हो, तो तुम पाखण्डी हो। यदि दुनिया को दिखाने के लिए तिलक-छापे लगाते हो, गङ्गा नहाते हो, सीताराम जपते हो, पर चुपचाप होटल में शराब और कोफ्ते उड़ाते हो तो तुम पाखण्डी हो।

मैं कहता हूँ कि तुम में यदि सतोगुण नहीं है, यदि तुम धर्मात्मा नहीं बन सकते, यदि सत्य को ग्रहण नहीं कर सकते तो तुम खुल्लमखुल्ला शराब पीओ, व्यभिचार करो, मैं अन्त तक तुमसे प्रेम करूँगा और तुम्हें मर्द बच्चा समझूँगा।

परन्तु यदि तुम गाय की खाल ओढ़कर समाज को धोखा

देते हो, तुम्हारे भीतर कुछ और तथा बाहर कुछ और है, तुम खुलकर पापी कहलाने का साहस नहीं कर सकते—न पाप को त्यागने योग्य आत्मबल ही तुम्हारे अन्दर है, तुम सब प्रकार की दुर्बलताओं के गुलाम हो, सत्य बात को सुनकर कहते हो कि हाँ, सत्य तो है, पर क्या करें मजबूर हैं, तो निस्सन्देह तुम कीड़े मकोड़े से भी अधिक नगण्य और घृणास्पद हो और मैं चाहूँग कि जितनी जल्द हो तुम्हारा नाश हो।

हमारे पाप अनगिनित हैं, इतने कि यदि कोई शक्ति पापों के दण्ड देने वाली है, तो हमें गारत हो जाना चाहिये था। हम गारत हुए, मगर पूरे नहीं। हम फिर जीवित हो रहे हैं, परन्तु आत्म-शुद्धि के बिना जीवन क़ायम नहीं रह सकता। बहुत-सी जातियाँ जीवित हुईं, पर जीवित रह न सकीं। इसका कारण आत्म-शुद्धि का अभाव है। आज हमारी जाति में जीवन उत्पन्न हो रहा है, इस जीवन को पोषित करने के लिये हमें आत्म-शुद्धि की बड़ी आवश्यकता है। सबसे प्रथम आत्म-शुद्धि का यह लक्षण है कि अपने को निष्पाप बनने के लिये हमें अपने पापों को स्वीकार करना चाहिये।

जिन दो पापों का हमने ऊपर इशारा किया है, उनमें एक पाप यह है कि हमने मनुष्य को मनुष्य के ऊपर स्थान दिया। परमेश्वर की सृष्टि में सब मनुष्य समान हैं। सबका हाड़, मांस, मन, आत्मा, शरीर, स्वभाव, इच्छा, जीवन, भूख, प्यास एक समान है। इसका कोई कारण नहीं हो सकता कि कुछ मनुष्य कुदरती तौर पर बहुत बड़े समझ लिये जाँय और कुछ बिलकुल कीड़े-मकोड़े नीच। कुछ इने-गिने मनुष्य लाखों मनुष्यों के मानवता के अधिकारों को कुचलते चले जाँय, यह ऐसा पाप है जो

चाहे जैसी भी प्रबल जाति हो उसे ग़ारत कर देगा। मनुष्य मनुष्य का भाई है। वह सामाजिकता के नाते एक समान है। हमने स्वार्थवश इस समानता को नष्ट कर दिया। हमने ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ घोषित कर दिया। उनकी सर्वश्रेष्ठता उनकी जन्म-सिद्ध वस्तु बन गयी। वे लुच्चे, लफंगे, कलंकी, व्यभिचारी, पापी, मूर्ख, पतित होने पर भी अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगे। और अछूतों के मानसिक और शारीरिक विकास के हमने सब अधिकार छीन लिये। उन्हें छिपाकर के समाज के अन्धेरे तहखानों में डाल दिया, उन्हें नगर में घुसने की मनाही की, उन्हें पास आने और छूने की मनाही की, उन्हें धर्म-मन्दिरों, कुओं और घाटों पर चढ़ने की मनाही की और अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनने तथा विद्या पढ़ने की मनाही की।

ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रियों ने अपने से नीच समझी जाने वाली जातियों पर अत्याचार करने में कसर नहीं रक्खी।

वैश्यों की दशा इससे भी अधिक दयनीय है। तेज और साहस इस जाति से कोसों दूर है, परन्तु स्वार्थ-लिप्सा और क्रूरता की हद नहीं। क्या मजाल किसी ग़रीब को बिना ब्याज रुपये दे दें या ब्याज में पाई भी छोड़ दें। उसका परिवार दुःखी हो तो भी कुर्की करा लेंगे, पर पाई-पाई वसूल करेंगे।

शूद्रों का जीवन अपराध और पाप का जीवन बन गया है और वे बल-पूर्वक मानवीय अधिकारों से च्युत किये जाकर पशुओं से भी बदतर हो गये हैं। इस प्रकार मनुष्य के ऊपर मनुष्य का विधान करके हमने अपने समस्त राष्ट्र को मिट्टी में मिला दिया है। हम बर्बाद हो गये हैं। अपने से नीच बना कर हमने कुछ लोगों का ही नाश नहीं किया, हमने अछूतों और शूद्रों

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि हमारा कर्तव्य-पथ बहुत ही विकट है। हम उस स्थान पर पहुँच गये हैं कि यदि हम कर्तव्य के नाम पर नाजुक से नाजुक जोखिम अपने सिर पर न ले लेंगे, तो हमारा अति शीघ्र नाश हो जायगा। क्योंकि अब तक जिस हिन्दू संस्कृति ने हमें जीवित रक्खा है वह इतनी जीर्ण, दोषपूर्ण और अव्यावहारिक हो गई है कि अब ठहर नहीं सकती। प्रत्येक संस्कृति के लिए युग आते हैं। युग-धर्म के अनुसार महाजातियों की संस्कृतियाँ बदलती रहती हैं। जो जाति अपनी संस्कृति को युगधर्म के अनुकूल नहीं बना सकती, वह देर तक जीवित नहीं रह सकती। हिन्दू जाति ने अपनी संस्कृतियों को समय-समय पर बदला है, यद्यपि संसार की सभी जातियों के इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं—परन्तु मूल संस्कृति स्थिर रखते हुए केवल आंशिक परिवर्तन भारत ही में हुए है।

मुसलमान, ईसाई और अन्य हिन्दू इतर सभी जातियाँ यद्यपि भारतीय हैं, परन्तु भारतीयता से दूर हैं। प्रत्येक मुसलमान अपने को अपने पड़ौसी हिन्दू की अपेक्षा अरब के एक अपरिचित मुसलमान को अधिक सगा समझता है। यही दशा ईसाइयों और अन्य जातियों की है। हिन्दू उन आर्यों के वंशज हैं जिन्होने भारत की जातीयता, गौरव और उसकी लोकोत्तर संस्कृति क़ायम की है। इसके सिवा हिन्दुओं का भारत मूल स्थान है। भारत की आज सबसे प्राचीन जाति हिन्दू है—और मेरा कहना यह है कि उसकी संस्कृति मूल भारतीय संस्कृति है। अन्य जातियाँ उसकी सहयोगिनी होने के योग्य हैं।

परन्तु आज भी हिन्दू जाति में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह भारत की सब जातियों को अपने में आत्मसात करके एक अखण्ड

महाजाति का जन्म दे। हिन्दुओं में राष्ट्रीयता का सर्वथा ही अभाव है। हिन्दुओं की अपनी कोई भाषा नहीं, वङ्गाली, तामिल, मराठी, गुजराती, पञ्जाबी आदि सैंकड़ों भाषाएँ वे बोलते हैं। हिन्दुओं का अपना कोई वेश नहीं, एक मर्म नहीं, एक जीवन नहीं, एक चिह्न नहीं, एक लक्ष्य नहीं, एक संगठन नहीं।

हिन्दू नवयुवकों मे आज साहस का उदय हुआ है, इसलिए हम हिन्दू जाति से बहुत आशान्वित हो रहे हैं। यदि नवयुवक साहस कर अपने कर्तव्य पथ पर अन्त तक चलें तो उनकी विजय है। हम प्रत्येक हिन्दू युवक से कहेंगे, भारतीय जातियों को आत्मसात् करके अपनी महाजाति का एक नवीन भव्य महल निर्माण करो जो संसार की महाजातियों के देखने योग्य एक अनोखी चीज़ हो।

३

राष्ट्र का नव-निर्माण

मैं सुधारक नहीं, क्रांतिवादी हूँ। मैं भारतीय राष्ट्र को सुधारना नहीं, उसे विध्वंस करके फिर से नव-निर्माण किया चाहता हूँ। भारतीय राष्ट्र में जितना विरोध, जितने खण्ड, जितने दोष और पाप, मैल भरे हैं, उन्हें देखते कोई भी बुद्धिमान इसके सुधार की आशा नहीं कर सकता। स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय और अनेक आधुनिक महापुरुषों ने इस उन्नीसवीं शताब्दी में, और इससे प्रथम दूर तक के इतिहास के सिलसिले में, प्रबल सुधारवाद का आयोजन किया; परन्तु फल यही हुआ कि एक नया खण्ड, नया सम्प्रदाय बन गया और दिमाग़ी गुलामी के वातावरण ने उसमें दुर्बलताएँ ला दीं! आर्य समाज और ब्रह्म समाज, दादू पंथ और नानक पंथ सभी की भावना राष्ट्र में सुधार और नवजीवन उत्पन्न करने की रही, परन्तु ये सभी एक-एक नये पन्थ बन गये और इनमें भी वे दोष आ गये, जो उन कुसंस्कारी पुरुषों के संसर्ग से आने अनिवार्य थे, जो क्षणिक उत्तेजना से इन दलों में मिले तो—पर वे अपने उस पुराने कुसंस्कारों के गुलाम थे, वे अपनी पुरानी बिरादरियों में, पुराने

समाज में वैसे ही मिले रहे। इन सम्प्रदायों में और एक सम्प्रदाय की वृद्धि करना हो तो कोई नये सुधार की योजना रक्खे! परन्तु वह योजना चाहे जितनी कट्टर होगी—समाज का कल्याण न कर सकेगी। यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं, एक तरफ हिन्दू गो मांस के नाम से काँपते हैं और गोवध के विरुद्ध आपे से बाहर हो जाते हैं, उधर ईसाई, मुसलमान खुल्लमखुल्ला गो-मांस खाते हैं। मुसलमान सुअर के नाम से हद दर्जे तक चिढ़ते हैं, पर सिक्ख खुल्लमखुल्ला सुअर खाते हैं। ईसाई सुअर और गो-मांस दोनों ही से परहेज नहीं करते। इस विषय की कट्टरता सैकड़ों वर्ष तक हिन्दू-मुसलमानों के निकट रहने पर भी नहीं मिटी! और हजारों वर्ष साथ रहने पर भी आज भी न हिन्दू गो-मांस के प्रति उदासीन हुए, न मुसलमान ही! इसी प्रकार मूर्तिपूजा के विरोधी मुसलमानों ने जितना इसका विरोध किया, उतनी ही कट्टरता उत्पन्न हुई! हिन्दू सम्प्रदाय में भी दादू, नानक, आर्य आदि मत मूर्तिपूजा के विरोधी हैं, परन्तु उनका परस्पर कुछ भी प्रभाव नहीं। सुधारक हठधर्मी पर प्रभाव नहीं जमा सकता! ईसाइयों और मुसलमानों ने हठधर्मियों पर बल प्रयोग किया। वह एक क्रांति थी—सुधार न था। फल यह हुआ कि ये दोनों सम्प्रदाय संसार में व्याप्त हो गये। बौद्ध धर्म का प्रचार यद्यपि प्रकट में क्रांतिकर नहीं समझा जाता, पर वास्तव में उसकी जड़ में मार-काट, अत्याचार और क्रान्ति कम न थी!

यह तो हम अच्छी तरह समझ गये हैं कि वर्तमान हिन्दू-धर्म दिमागी गुलामी का एक जीर्णशीर्ण अस्तित्व है, उसमें अपनी रक्षा की रत्ती भर सामर्थ्य नहीं। आज राजनैतिक आन्दोलन ने जो शक्ति हिन्दू समाज को दी है—वह बात ही दूसरी

है। उस शक्ति के केन्द्र हिन्दू-धर्म की दृष्टि से तो प्रायः कोप और तिरस्कार के ही पात्र हैं ! इस हालत में यदि हिन्दू समाज, जिसे धर्म या कर्तव्य के नाम से मानता है, यदि उसकी पूरी-पूरी परवा की जाय तो, जो राष्ट्रीय प्रगति देश में पैदा हुई है, वह वहीं रुक जाय ! क्या वह हिन्दू, मुस्लिम और अल्प-संख्यक भारतीय जातियों के रक्त-सम्बन्ध को स्वीकार कर सकता है ? उसकी आज हमें आवश्यकता है। क्या वह स्त्रियों के उस साहस की प्रशंसा कर सकता है, जो वे आश्चर्यजनक रीति से किसी अज्ञात दुर्जेय शक्ति के. बल पर दिखा रही हैं ? वह तो समाज कल्याण से दूर—एक ऐसी भावना में ओत-प्रोत है, जिसकी सारी ही शक्ति आत्मा की कल्याण-कामना में लग गई है, और वह भावना भी शुद्ध नहीं, प्रायः भ्रान्त है ! आत्मा की कल्याण-कामना निस्सन्देह एक बहुत सुन्दर वस्तु तो है—परन्तु राष्ट्र और देश के कल्याण का प्रश्न भी असाधारण है ! दर्शन-शास्त्र कहते हैं—"यतो अभ्युदय निःश्रेयससिद्धिस्म धर्मः" जिससे अभ्युदय और निश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है। यह अभ्युदय ही सांसारिक परमस्वार्थ और निःश्रेयस पारलौकिक परमस्वार्थ है। सांसारिक परमस्वार्थ राष्ट्रीय स्वाधीनता, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्वाधीन अधिकार और पारलौकिक परमस्वार्थ आत्मा का सभी बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना यह निःश्रेयस है। यदि मैं कहूँ कि निःश्रेयस से अभ्युदय श्रेष्ठ है तो अनुचित नहीं, यदि श्रीकृष्ण अभ्युदय को निःश्रेयस की अपेक्षा श्रेष्ठ न मानते, तो सम्भव न था कि जगत प्रपञ्च में फँस कर ऐसे लोमहर्षक रक्त-पात के विधायक बनते। क्या कुरुक्षेत्र और प्रभास का हत्याकाण्ड साधारण था ? और क्या अकेले श्रीकृष्ण ही उसके पूर्ण रूप से

उत्तरदायी नहीं थे ? क्यों उन्होंने चुपचाप मुक्ति की कामना से संसार को त्याग कर समाधि नहीं लगाई ? जीवन भर क्यों महात्मा गांधी जेल में कैदी के रूप में पड़े रहे ? इन उदाहरणों से हम समझ सकते हैं कि प्रथम यह लोक और पीछे परलोक है, इसलिये हमें सर्व प्रथम इस लोक के लिये सत्कर्म करने चाहिये और पीछे परलोक के लिये।

हमारी एक भयानक भूल यह है कि हम जब कभी छोटा-बड़ा सत्कर्म करते हैं, वह परलोक के लिये करते है, और जो छोटा-बड़ा कुकर्म करते है, इस लोक के लिये करते है ! हम दया, सेवा, त्याग, दान, तप, संयम, विवेक आदि का जब कभी उपयोग करेंगे, उसका फल परलोक-खाते में डालेंगे, पर जब कभी स्वार्थ, छल, पाखण्ड, हत्या, चोरी तथा व्यभिचार आदि दुष्कर्म करेंगे, इस लोक के लिये करेंगे। यदि हम यथासम्भव सत्कर्म इस लोक के लिये करें, तो हमारी बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जायँ। प्रातःकाल हम स्नान करके माला ले, गोमुखी में हाथ डाल, भगवत् स्मरण के लिए बैठते हैं—घण्टे दो घण्टे में जितने पवित्र वाक्य, श्लोक, दोहे, चौपाई, पद याद होते हैं सभी रट जाते है—यह हमारा सारा काम परलोक में फल देगा ; पर वहाँ से उठ कर जब दफ्तर या दुकान पर आते हैं और कारबार में झूठ, दगा, निर्दयता आदि का व्यवहार करते हैं तब किस पाप से जेब कितनी भारी होगी, यही देखते है—परलोक को बिल्कुल ही भूल जाते हैं ! यही तो दिमागी गुलामी है जो हमें सुधार करने में विफल करती है और जिसके संस्कार मात्र को बिना नष्ट किये हम नवराष्ट्र की रचना नहीं कर सकते और बिना

नवराष्ट्र को रचना किये हम देश को न एक इंच बढ़ा सकते हैं और न उसका रत्ती भर भला कर सकते हैं !!

यह बात सच है कि मेरे आक्षेप की प्रधान दृष्टि केवल हिन्दू समाज पर ही है, और वह इसलिये कि वही भारत की प्रधान जाति है। उसकी संख्या २२ करोड़ है और उसी के सङ्गठन में बहुत से खण्ड हैं ! हिन्दू ही राष्ट्रीय नव-निर्माण में सब से बड़ी बाधा हैं। छुआछत, खानपान, ऊँच-नीच, जाति-मर्यादा आदि के भयानक बन्धनों ने हिन्दू जाति को इतना निस्तेज और निर्वीर्य कर रक्खा है कि जब तक उसके ये बन्धन दृढ़तापूर्वक काट न दिये जायँ—वह किसी काम की नहीं बन सकती ! २२ करोड़ नर-नारियों के समुदाय को इस बन्धन में विवश छोड़कर भारत आगे बढ़ेगा कैसे ? यह तो बात विचार में ही नहीं आ सकती !!

हिन्दू नवयुवकों ने इस समय उत्क्रान्ति में जो पौरुष प्रयोग किया है वह असाधारण है, परन्तु नवीन नहीं। चीन, जापान, रूस, इटली आदि देशों के नवयुवक अभी पीछे हैं—परन्तु उनके बन्धन भी असाधारण हैं। सौभाग्य से भारत को राजनीति का एक गुरु गांधी जैसा महान् पुरुष मिल गया। गांधी का राजनैतिक गुरुपन कर्म-भित्ति पर था, यह बड़े आश्चर्य का विषय है। भारत के लिए यह स्वाभाविक भी था, और इसका फल हमने प्रत्यक्ष देखा कि जो नवयुवक महात्मा गांधी के राजनैतिक दीक्षा प्राप्त शिष्य बनते गये, वे हिन्दू-धर्म की रूढ़ि की गुलामियों से भी साथ-साथ बहुत दूर तक स्वाधीन होते गये। छुआछूत और ऊँच-नीच के भेद उनसे दूर हो गये—वे सेवा कार्य और सात्विक जीवन के महत्व पर स्वतन्त्र विचार करने लगे—उनके मन पवित्र, स्वच्छन्द और त्याग की भावना से ओत-प्रोत

हो गये। महात्मा गांधी को यह श्रेय प्राप्त था कि उन्होंने भारत के युवकों को अपनी आत्मिक और हार्दिक सद्भावनाओं को ऐहिलौकिक कार्यों में—और उन कार्यों में, जिनमें प्रायः उनका स्वार्थ नहीं होता—लगाने की रुचि उत्पन्न कर दी।

यह बात तो मैं स्वीकार करूंगा कि ऋषि दयानन्द की शिक्षा ने विशुद्ध धार्मिक ढङ्ग से स्वतन्त्र विचार करने की रुचि भारत के इन युवकों के पिताओं के मन में पैदा कर दी थी, और इसके साथ ही अङ्गरेजी शिक्षा-पद्धति ने उनके पुराने अन्ध-विश्वासों को जड़ें हिला डाली थीं। अब ये युवक किसी रूढ़ि के गुलाम होंगे, यह मैं आशा नहीं कर सकता। इनमें वीरता, त्याग, स्वावलम्बन और विनम्रता उत्पन्न करने का श्रेय तो महात्मा गांधी ही को है। यह महापुरुष शताब्दियों तक भारत में पूजा जायगा। हिन्दू-धर्म की सात्विक प्रवृत्तियों को इसने उदय किया। दुर्दम्य क्षोभ के कारणों को प्रकट करके भी इस पुरुष ने युवकों को संयम से युद्ध करने की शिक्षा दी। नवराष्ट्र के निर्माण की यह मूल भित्ति है।

मैं यह कह सकता हूँ कि यदि नवराष्ट्र के निर्माण में हिन्दू मुस्तैदी और साहस से जुट जायँ और राजनैतिक भाग्यनिर्णय से प्रथम ही नया राष्ट्र बनालें—तो फिर कल्याण ही कल्याण है! फिर तो न रूस, न एंग्लो-अमेरिकन गुट ही की क्रान्ति भारतीय क्रान्ति के समान उज्ज्वल हो सकती है!!

यदि हिन्दू समाज अपनी दिमाग़ी गुलामी को तोड़ दे; वह स्वच्छन्द हो जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि मुसलमान और अल्पसंख्यक जातियाँ बड़ी आसानी से उसके अन्दर लीन हो जायेंगी!! मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि जब तक यह मुख्य

कठिनाई दूर नहीं हो जाती, भारत की राजनैतिक स्थिति दृढ़ नहीं हो सकती। जब तक ब्रिटेन का राज्य था, तब तक तो किसी तरह मामला इसी भाँति चलता रहा, परन्तु अब राजसत्ता का प्रश्न आया है। जब देश का स्वामी देश का जनबल होगा, तब यदि जनबल में एक संयुक्त राष्ट्रीयता पैदा न हुई तो प्रजासत्ता देश में स्थापित हो ही नहीं सकती। इसके विरुद्ध उस समय देश में ऐसी अशान्ति उत्पन्न हो सकती है जिसके शान्त करने का कोई उपाय ही नहीं है।

एक समय था, जब भारतवर्ष एक सुदृढ़ किले के समान था। वह अपनी आवश्यकता की सभी सामग्री उपजा लेता था। विदेशियों से यदि इसका कोई सम्बन्ध था तो सिर्फ इतना ही कि उसके काम में आने से जो कुछ बच जाय उसे वह विदेशियों को बेच दे। तब विदेशी व्यापारी उसके द्वार पर खड़े रहते थे, और जो कुछ भारत को देना होता था, उसे लेकर बदले में स्वर्ण और रत्न देकर चले जाते थे! उस समय उसकी एकदेशीयता बनी हुई थी। उसका अन्य जातियों से संसर्ग न करना भी निभ गया था; यद्यपि तब भी भारतीय बड़ी-बड़ी यात्राएँ करते थे—परन्तु वह समय ही और था। राजसत्ता का प्रायः सर्वत्र आधिपत्य था। भारत में भी राजसत्ता थी—इसके सिवा भारत की एकजातीयता भी थी।

पर वह क़िला तो अब टूट गया। अब उसे स्वाधीन होते ही शताब्दियों तक व्यापार-वाणिज्य और शिल्प-शिक्षा आदि के लिये संसार भर में यात्रा करनी पड़ेगी। संसार की जातियों से मित्रता व सद्भाव बनाना पड़ेगा। ऐसी दशा में यदि हिन्दू अपना चौका, धोती, दाल, चावल और जनेऊ लिए फिरें तो समझिए

कि उनकी दुर्दशा और असुविधाओं का अन्त न रहेगा ! क्या हिन्दू-जाति सरलता से पड़ोसी जातियों की बन्धु बन सकती है ? उसे तो एशिया के संगठन में सम्मिलित होना अनिवार्य है। यदि उसने अपनी मूर्खता और चौके-चल्हे में फंस कर एशिया के संगठन का तिरस्कार किया तो यह मानी हुई बात है कि एशिया का सर्वप्रथम काम यह होगा कि वह अपने पहले धक्के मे इस निकम्मी अछूत हिन्दू-जाति को विध्वंस कर दे और तब उसे पड़ोस के मुस्लिम राष्ट्र बांट लें ।

यह स्पष्ट है कि ब्रिटेन के पजे से छूट कर भी भारत हिन्दू-जाति की सम्पत्ति नहीं बन सकेगा, जब तक कि वह अपना नया राष्ट्र न निर्माण कर ले और जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और अन्य अल्प-संख्यक जातियां मिलकर एक महाजाति के रूप में न खड़ी हो जायं !!

भारतीय-प्रजातंत्र के ये हिस्से नही बंट सकते, जैसे कि अंगरेजी राज्य में थे। कितनी नौकरियां हिन्दुओं को और कितनी मुसलमानों को मिलें—यह तुच्छ प्रश्न अब न रहेगा, अब तो यही प्रश्न होगा कि भारत को निवासनी महाजाति का नाम क्या है, भारत की अधिपति जाति कौन सी है ?

मैं प्रथम कह चुका हूं कि नवराष्ट्र निर्माण में सब से बड़ी बाधक हिन्दू-जाति है। अन्य जातियां बहुत कुछ बढ़ी हुई हैं—यदि हिन्दू-जाति उनके बराबर पहुंच जायगी तो अन्य जातियां खुशी से मिल जायेंगी !!

हिन्दू-सङ्गठन और शुद्धि-आन्दोलन इन दोनों ही नीतियों से मेरा मतभेद का मूल कारण यह है कि इन नीतियों से अन्य जातियों को भी हिन्दुओं के उन पुरानी रूढ़ियों के बंधनों में

बांधा जा रहा है ! प्रश्न तो यह है कि इस समय हिन्दू-संस्कृति संसार की सभ्य जातियों से सामाजिक रीति से मिलने के योग्य है या नहीं ? यदि है तो अन्य जातियों को शुद्ध करना ठीक है। यदि नहीं तो जहां २२ करोड़ चौका-चूल्हा, जाति, छूत-अछूत, जनेऊ धोती की चिन्ता में हैं, वहां ४० करोड़ हो जायेंगे। मुख्य और विकट प्रश्न तो बना ही रहेगा।

अलबत्ता, हिन्दू नाम से मैं प्रेम करता हूं ! भले ही उसका चाहे कोई जो भी भद्दा अर्थ करे। मैं यह स्वाभाविक रीति से चाहूंगा कि हिन्दुस्तान का प्रत्येक प्राणी अपने को हिन्दू कहे। मैं हिन्दू-राष्ट्र के निर्माण का प्रश्न देखता हूं और हिन्दू-राष्ट्र के निर्माण की ही योजना सामने रखता हूं और उसमें सभी अल्प-संख्यक भारतीय जातियों को लीन करने की कामना भी करता हूं। पर हिन्दू-राष्ट्र की वह शक्ल होनी चाहिए, कि संसार की सभी जातियों में उसके अबाध सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो सकें—तभी भारत में एक महान् राष्ट्र का उदय हो सकता है !!!

४

जाति-पाँति का विनाश

मेरी यह खुली राय है कि जब तक जन्मगत ब्राह्मणत्व का जड़-मूल से नाश न हो जायगा, तब तक हिन्दू-राष्ट्र का संगठन होना किसी भी भाँति सम्भव नहीं। ये शब्द बहुत कठोर हैं, परन्तु मैं इन्हें छाती में छिपाये बैठा हूँ। ये शब्द मैं दुनिया खासकर हिन्दू-समाज के सम्मुख रक्खूँ या नहीं—इसकी विवेचना मैंने बड़ी ही बेचैनी से की है। मेरे ये शब्द नये, भाव कठोर और कानों को असह्य हो सकते हैं—परन्तु ऐ हिन्दू-जाति के बुद्धिमान भाइयो! जरा इस बात पर तो विचार करो कि जो जाति यह दावा करे, कि हम चाहे कैसे भी मूर्ख, पाखण्डी, धूर्त, नीच, शराबी, व्यभिचारी, लम्पट, खूनी, कसाई, चोर, लुटेरे, कमाई और विश्वासघाती एवं गुलाम-चाकर हों, किन्तु फिर भी संसार भर की मानव जाति में सबसे श्रेष्ठ और सभी के वन्दनीय हैं; यह श्रेष्ठता हमारा जन्म-अधिकार है; और हमसे भिन्न अन्य कोई भी मनुष्य चाहे जैसा श्रेष्ठ, विद्वान्, सदाचारी, धर्मात्मा, त्यागी, तपस्वी हो—वह हमसे निकृष्ट ही है—उसके प्रति उपरोक्त भाव न प्रकट किया जाय तो किया क्या जाय?

वेद पढ़ना-पढ़ाना, दान लेना और देना, यज्ञ करना
कराना—ये ब्राह्मण के लक्षण हैं। अब जरा ग़ौर करके
जाय, इनमें मनुष्य जाति में सर्वश्रेष्ठ होने योग्य कौन-सा गु
लज्जा की बात तो यह है कि दान लेना भी गुणों में समझा
है, जबकि कोई भी आत्माभिमानी किसी का दान नहीं स्वी
कर सकता। परन्तु अधिक-से-अधिक वेद पढ़ना ऐसा गु
सकता है, जो ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा बढ़ाये। परन्तु इस वेद
का मूल सिर्फ उन्हें कण्ठ याद रखना और उनके द्वारा भिन्न-
आडम्बरों के द्वारा यज्ञ रचाना था—उनका अर्थ समझना न

गीता में जो ब्राह्मणत्व के लक्षण हैं, वे मनु की अपेक्षा
उच्च हैं।

"शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, शास्त्र-ज्ञ
अनुभव ज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मण के कर्म हैं।"

गीता अ० १८ ; श्लोक ४

गीता-वर्णित गुणों से यह पता लगता है कि गीता
उद्गाता ब्राह्मणत्व को सुसंस्कृत करना चाहता था। यह ध्या
में रखने योग्य बात है कि वह ब्राह्मणत्व के ये स्वाभाविक
बताता है।

अब क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि उत्कृष्ट मानवीय गु
हरिश्चन्द्र राजा में नहीं थे, यदि ब्राह्मणत्व श्रेष्ठ था तो क्यों रा
हरिश्चन्द्र को वह नहीं प्रदान किया गया? क्या युधिष्ठिर, विदु
श्रीकृष्ण, राम और भर्तृहरि आदि-आदि व्यक्ति शम, दम, त्या
वैराग्य और ज्ञान की चरम सीमा में पहुँचे हुए पुरुष न थे
परन्तु खेद की बात तो यह है कि वे ब्राह्मणत्व की अपेक्षा श्रेष्
स्वीकार ही नहीं किये गये।

अब विचारने की बात तो यह है कि आज ब्राह्मणत्व की हमें आवश्यकता है या नहीं—अर्थात् वह हिन्दू समाज के लिए कुछ उपयोगी भी है या नही ? दूसरे, उसमें संशोधन किया जाय या उसका नाश किया जाय ?

मैं प्रथम प्रश्न के उत्तर में यह दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि इस समय और भविष्य में भी हिन्दू-समाज को ब्राह्मणत्व की बिलकुल जरूरत नहीं है। इस समय पढ़ाने-लिखाने आदि गुरु का कार्य ब्राह्मण ही करें, इसका कोई प्रतिबन्ध नहीं है। चाहे भी जिस जाति का हिन्दू बच्चा चाहे भी जिस जाति का शिष्य बन जाता है, यह स्कूल कालेज में हम देखते ही है। अलबत्ता, संस्कृत शिक्षा-पद्धति में अभी ब्राह्मणत्व की बू है। एक तो संस्कृत पढ़ने और पढ़ाने वाले दोनों ही प्रायः ब्राह्मण होते हैं, परन्तु ब्राह्मण गुरु अब्राह्मण छात्रों से और ब्राह्मण शिष्य अब्राह्मण गुरु से ग्लानि करते है—जो कि इस भाग्यहीन जाति के उस झूठे गर्व का चिह्न है, जिसने उसे आज निकम्मा बना दिया है, फिर भी संस्कृत-शिक्षा की परिपाटी तेजी से आधुनिक हो रही है, और यह कट्टरता मिट जायगी। मैं यह भी आशा करता हूँ कि सस्कृत का सारा महत्व अति शीघ्र हिन्दी ले लेगी, और संस्कृत पढ़ने वाले छात्र आगामी १० वर्षों में बहुत कम रह जायेंगे। परन्तु ब्राह्मणों की सबसे अधिक और अनिवार्य आवश्यकता तो धर्म कृत्यों के लिए है। बिना ब्राह्मण के कोई भी सस्कार—शादी, गमी, गृह प्रवेश, यात्रा आदि नही किये जाते। याजक, ज्योतिषी—और न जाने किस-किस रूप में ब्राह्मणत्व की आवश्यकता बनी ही रहती है। ब्राह्मण किसी भी घर में एक घण्टा किसी भी ग्रन्थ का जप कर जायगा और

वेद पढ़ना-पढ़ाना, दान लेना और देना, यज्ञ कर
कराना—ये ब्राह्मण के लक्षण हैं। अब जरा ग़ौर कर
जाय, इनमें मनुष्य जाति में सर्वश्रेष्ठ होने योग्य कौन-सा
लज्जा की बात तो यह है कि दान लेना भी गुणों में सम
है, जबकि कोई भी आत्माभिमानी किसी का दान नहीं
कर सकता। परन्तु अधिक-से-अधिक वेद पढ़ना ऐसा
सकता है, जो ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा बढ़ाये। परन्तु इस वे
का मूल सिर्फ उन्हें कण्ठ याद रखना और उनके द्वारा भि
आडम्बरों के द्वारा यज्ञ रचाना था—उनका अर्थ समझना

गीता में जो ब्राह्मणत्व के लक्षण हैं, वे मनु की अपेक्ष
उच्च हैं।

"शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, शास्त्र
अनुभव ज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मण के कर्म हैं।'

गीता अ० १८ ; श्लोक

गीता-वर्णित गुणों से यह पता लगता है कि गीत
उद्गाता ब्राह्मणत्व को सुसंस्कृत करना चाहता था। यह
में रखने योग्य बात है कि यह ब्राह्मणत्व के ये स्वाभाविक
बताता है।

अब क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि उत्कृष्ट मानवीय
हरिश्चन्द्र राजा में नहीं थे, यदि ब्राह्मणत्व श्रेष्ठ था तो क्यों
हरिश्चन्द्र को वह नहीं प्रदान किया गया? क्या युधिष्ठिर,
श्रीकृष्ण, राम और भर्तृहरि आदि-आदि व्यक्ति शम,
वैराग्य और ज्ञान की चरम सीमा में पहुँचे
परन्तु भेद की बात तो यह है कि वे
स्वीकार ही नहीं किये गये।

ऐसी वस्तु ही नहीं रही, जिसके बिना समाज का काम ही न चल सके। वह तो वक्त ही अब लोटकर नहीं आ सकता, जब ब्राह्मणों के अधीन राजाओं को महाराज और महाराजों को सम्राट बना देने की शक्तियां थीं ! यदि इस समय ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया जाय तो छुआछूत, ऊँच और नीच, अन्धविश्वास और वाह्याडम्बर बिलकुल मिट जायें।

ब्राह्मण यदि अपने को सर्वश्रेष्ठ समझे और अन्य जातियों को अपने से नीचा समझे तो इसमें अन्य जातियों का क्या लाभ है ? फिर वे भी अपने में से ऊँच नीच चुनती जायेंगी। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय के हाथ का भोजन करने से इन्कार कर दे तो क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के हाथ का खाने से इन्कार करेगा, यह परम्परा ही है।

अवश्य ही इन बातों के रहते यहाँ संगठन नहीं हो सकेगा। और मैंने खूब सोच-विचार कर देख लिया है कि हिन्दू जाति को उठकर खड़ी होने के लिये प्रथम बार जो उद्योग करना है— वह ब्राह्मणत्व का नाश कर देना है। इसलिए मैं यही अपनी खुली सम्मति रखता हूँ कि इसे जड़मूल से नष्ट कर दिया जाय। ब्राह्मण मित्रों, सम्बन्धियों और प्रियजनों एवं बुजुर्गों से हमारे वही प्रेम और आदर के सम्बन्ध बने रहने चाहिये—किन्तु धर्म कृत्य या वे काम, जिनकी दक्षिणा होती है, उनसे कदापि ब्राह्मण के नाते नहीं कराने चाहिये।

ब्राह्मण भोजन भी इनमें से एक कर्म है—शादी और ग़मी में प्रथम ब्रह्म भोज होता है। ऐसा न होकर यदि आवश्यकता ही हो तो एक पंक्ति में प्रति भोज होना चाहिए। अलबत्ता दानखाते

यदि कुछ अन्न-वस्त्र अथवा धन देना हो तो अनाथालय, अस्पताल आदि सार्वजनिक संस्थाओं को वह दिया जा सकता है।

अकेले ब्राह्मणत्व का नाश करके ही हिन्दुओं का उद्धार नहीं हो सकता। उन्हें जात-पांत के कोढ़ को भी जड़-मूल से दूर करना होगा। ब्राह्मणत्व ही इस जात-पांत के बखेड़े की जड़ है, यह तो स्पष्ट है, परन्तु जात-पांत ने स्वयं भी एक ऐसा कुसंस्कार हिन्दू-जाति में उत्पन्न कर दिया है, कि जो उसे पनपने ही नहीं देता। कोई भी जाति चाहे जितनी नीच या निम्न श्रेणी की हो—पर जब कभी उसकी जातीय-पञ्चायत होती है, तब उसकी अकड़-ऐंठ और खींच-तान की बहार देखने ही योग्य होती है। जाति के चौधरी और पञ्च अपने को धन्ना सेठ का ससुरा समझ कर इस तरह अकड़-अकड़ कर बातें करते हैं कि उनकी वाग्मिता पर 'वाह !' कहने को जी चाहता है। जाति के लोग शराब पीकर मतवाले हो जाते हैं या मांसाहारी, व्यभिचारी और कुमार्गी हो रहे हैं, यह इन पञ्चों का विचारणीय विषय नहीं। इन पञ्चों का विचारणीय विषय तो यही है कि अमुक ने अमुक भिन्न नीच ऊँच जाति की स्त्री या पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लिया। अमुक ने अमुक का हुक्का पी लिया, इत्यादि !

ये चौधरी और पञ्च प्रायः मूर्ख और लालची एवं स्वार्थी होते हैं। और प्रायः दलबन्दी की कीचड़ में लथपथ होते हैं। ऐसी दशा में इनके फैसलों में न्याय की गुंजाइश होना सम्भव ही नहीं। ये लोग बिरादरी के लोगों को अपनी पालतू भेड़ समझते हैं और उन्हें अपनी पंचायत के बाड़े में बन्द करके मनमाने ढंग से उन्हें दाना-पानी दिया चाहते हैं। कभी-कभी तो इनके

अत्याचारों से गरीब व्यक्ति का सर्वनाश ही हो जाता है। पर
बहुधा यही देखने को मिलता है कि इन मूर्ख चौधरियों का इन
बेचारे जाति के मनुष्यों पर वैसा ही असाध्य एकाधिपत्य रहता
है, जैसा कि ब्राह्मणत्व का हिन्दुत्व पर है।

यद्यपि क्षत्रिय और ब्राह्मणों के बड़े-बड़े वर्णन प्राचीन का
के ग्रन्थों में मिलते हैं और उनकी श्रेष्ठता को एक-एक से बढ़ क
डींग हांकी गई है, परन्तु ब्राह्मण और क्षत्रिय बहुत ही कम, चुं
हुए श्रेष्ठ पुरुष बन सके थे। शेष प्रजा में ज्यों-ज्यों राजव्यवस्थ
समानता और सामाजिकता पैदा होती गई—एक तीसरे वर्ण
परिणत हो गई और यह तीसरा वर्ण वैश्य था, जो वास्तव
विप्र का विकृत रूप था—और जो वास्तव में साधारण प्र
के अर्थ में ही आया था। क्योंकि मध्यम वर्ग के लोग, जो
पुरोहित हो सकते थे और न योद्धा, नाना प्रकार के वाणि
व्यापार तथा उद्योग में लग गए थे—उनका वर्ण वैश्य हुआ
इन्हीं तीनों की सङ्गठन शक्ति आर्य जाति के नाम से प्रख्या
रही। शूद्रों को केवल नाम मात्र को उन्होंने मिलाया—वास्त
में वे आर्यों के सभी स्वत्वों से हीन थे।

इस समय की जाति-व्यवस्था और पुरानी जाति-व्यवस
में यही अन्तर पड़ गया है कि पुराने समय में जाति ने ब्राह्म
को कुछ और तथा क्षत्रियों को कुछ विशेष अधिकार दिया थ
पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और साधारण लोग मिल कर अपने को ए
ही जाति वाला समझते, एक ही धर्म की शिक्षा पाते थे। उन
साहित्य और कहावतें भी एक ही थीं। सब मिलकर एक स
खाते-पीते, बेटी-व्यवहार करते थे। परन्तु आजकल के जा
सम्प्रदाय के भेदों ने उसे इस क़दर छिन्न-भिन्न कर दिया

कि शादी-व्यवहार की समानता तो दूर रही, हाथ का छुआ पानी पीना और अन्न खाना भी अधर्म की बात समझी जाती है।

मैं ऊँची आवाज से सारे हिन्दुओं से यह पूछता हूँ कि वे यह तो बतावें कि इस जात-पाँत से क्या लाभ है? इससे कौन सा इस लोक का या परलोक का मतलब हल होता है? मेरे साथ आओ, मैं लाखों ब्राह्मणों को वेश्याओं का थूक चाटते दिखा दूँ। हजारों वैश्यों को होटल में मांस गटकते दिखा दूँ। इसमें इनका धर्म नहीं बिगड़ता। बिरादरी चूँ भी नहीं करती। चाहे भी जिस जाति की स्त्री से पाप-कर्म करने में जाति कुछ नहीं कहती, मगर विवाह करके उन्हें पत्नी बनाना पाप समझती है। मैं पूछता हूँ—पाप व्यभिचार है या पाप वह है जो नीति का पालन किया जाय। क्या ऊँची जाति के लोगों का शरीर हाड़-मांस का नहीं? हम बेवकूफ घमण्डी उच्च जाति वालों को मुसलमानों और अंगरेजों के सामने कुत्ते की तरह दुम हिलाते तो जरा भी गैरत नहीं आती, मगर घर में आते ही हम अपनी कुलीनता की डींग हांकते हैं। मैं उन पुरुषों को भी जातीय मामलों में कड़ी अकड़ से ऐंठता देख चुका हूँ जिन्हें दूसरी जाति वाले तुच्छ समझते हैं। यह कैसे शोक और पश्चात्ताप का विषय है।

हाँ, मैं यह कहता हूँ कि वर्ण-व्यवस्था भी नष्ट कर दो। यह तो मैं खास तौर पर जोर देकर पहले ही कह चुका हूँ कि ब्राह्मणत्व का तत्काल नाश कर देना चाहिए। मेरा कहना यह है कि अन्य वर्णों के विभाग की भी जरूरत नहीं है। चाहे भी जो व्यक्ति चाहे भी जो व्यवसाय अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार करेगा—जिसका भी उसे सुभीता होगा। आज ब्राह्मण हलवाई हैं, खोमचा बेचते हैं, रसोई करते हैं, पानी भरते हैं, मुनीम

हैं, चपरासी है, साहूकार हैं, वकील हैं, और ऊँचा-नीचा ऐसा कोई पेशा नहीं जिसमें वे न हों। फिर भी वे ब्राह्मण हैं। यह स्मरण रखने का एक तो यह कारण हो सकता है कि वे ब्राह्मणों में ही रोटी-बेटी के सम्बन्ध करें, दूसरा—दुनिया से वे अपने को सर्वश्रेष्ठ समझें। ये दोनों ही अधिकार, जितनी जल्दी हो सके, उनको नष्ट कर देने चाहिए।

बेशक मैं क्षत्रियों के वर्ण की भी आवश्यकता नहीं समझता। निकट भविष्य में जो नया राष्ट्र बनेगा उसके लिए हिन्दुस्तान के प्रत्येक युवक को क्षत्रियों के गुणों को सीखना होगा और उनकी राष्ट्रीय सेना, जब भी देश की जरूरत होगी, देश के लिए लोहू बहाने को तैयार मिलनी चाहिये। अब यदि युद्ध होंगे, भी तो उस प्रकार के न होंगे, जिस प्रकार के कि ह्वेनसांग ने या मेगस्थनीज ने देखे थे कि शत्रु किसानों और व्यवसायियों को छेड़ते तक न थे। अब—जब भी जहाँ युद्ध होगा—विध्वंस होगा। इसलिये देश की तमाम शक्ति को वर्णों या जातियों में विभक्त करने में नहीं बल्कि उसकी महा-जाति बनाने में ही उसका कल्याण है।

वैश्य वृत्ति के लिये किसी जाति को रिजर्व करना मूर्खता है। शान्ति के समय में ब्राह्मण और योद्धा क्या करेंगे? धर्म-कार्यों को किराये पर कराना तो घृणास्पद है ही—शान्ति में योद्धा लोग क्या नाच-रङ्ग में पड़े रहेंगे, जैसा कि पहले होता था? क्या आज भी सभी जातियाँ सब प्रकार के व्यापार नहीं कर रही हैं? क्या युद्ध-जीवन ठण्डा होते ही आज करोड़ों राजपूत—जाट, गूजर आदि जो क्षत्रिय हैं, खेती नहीं कर रहे हैं—पशु-पालन नहीं कर रहे हैं, जो वास्तव वैश्य का कर्तव्य है?

फिर ये झूठ-मूठ को क्षत्रिय या राजपूत क्यों कहलाते हैं ? इसलिए हम कहते हैं कि हम वर्ण और जाति की व्यवस्था को ही नष्ट कर दें। हम सारे भारत की एक जाति निर्माण करें, और रोटी-बेटी के सम्बन्ध न केवल भारत भर में, प्रत्युत् संसार की मनुष्य जाति भर में जायज हो जायें। तभी एशिया का यह सर्व-प्रधान देश अपने व्यक्तित्व का उदय करेगा और इसकी वह सत्ता चमकेगी जो यूरोप के शायद ही किसी देश की चमकी हो।

५
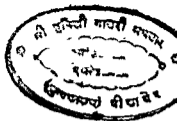
धार्मिक क्षेत्र में पाखण्ड का नाश

जो लोग हिन्दू-जाति के गुनहगार हैं, जिन्होंने पीढ़ियों से हराम की कमाई खायी है, जिन्होंने हिन्दू-जाति को सदैव ही सच्चे धर्म से दूर रखकर उसे अन्धविश्वासों और ढकोसलों में फँसा रखा है; जिन्होंने हिन्दू-जाति की गाढ़ी कमाई घोर पाखण्ड करके लूटी है और दुराचार में खर्च की है, जो धर्म के नाम पर अधर्म करते रहे हैं, जो अधिकांश मे मूढ़ और कुमार्गी हैं, और जिन्हें जिन्दा जमीन में गाड़ देना चाहिए, इस नवीन युग में आज सारी हिन्दू-जाति उन समस्त पुजारियों की खुशामद में लगी हुई है। यह अभागिनी हिन्दू-जाति के पतित और मुर्दार अस्तित्व का एक जबरदस्त प्रमाण है ! अछूतों के मन्दिर-प्रवेश को लेकर देश भर में भयानक आन्दोलन उठा था ; मजा यह है कि हमें सिवा पुजारियों की खुशामद करने के दूसरा मार्ग ही नहीं नजर आया। लानत है हमारी बुद्धि पर, और धिक्कार है हमारी दिमागी गुलामी पर।

अरे बदनसीब लोगों, तुम पुजारियों पर यह दोष लगाते हो कि वे मन्दिर में अछूतों को प्रवेश नहीं करने देते ; मैं कहता हूँ

तुम उन्हें अपने रसोई-घर में, भण्डार में क्यों नहीं प्रवेश ह
देते ? इसके लिये भी कोई शैतान पुजारी तुम्हें रोकता है ? ३
जब तुम यह करने लगोगे, क्या फिर भी कोई पुजारी ह
रोकेगा ? आज, जब प्रत्येक हिन्दू को दिमाग़ी गुलामी से उद्ध
करने का अवसर है—तुम बदनसीब अछूतों के मन में मन्दिर
प्रति क्यों मोह पैदा करते हो, जिन्हें हम कल अपने बच्चों
लिए शिक्षालय बनाने वाले हैं ? क्या हम इस समय पुराणों
गपोड़ों की जड़ में पानी नहीं डाल रहे हैं ? क्या हम अपढ़, अ
हाय अछूतों के हृदयों को अँधेरे में नहीं ढकेल रहे ? क्या हमा
यह फर्ज है कि जब हजारों वर्ष बाद उनके उभरने का सम
आया है तो उन्हें उन्हीं धार्मिक पाखण्डों के विश्वासी बनावें ज
शताब्दियों से पेशेवर गुनहगारों के हाथ में रहे हैं, और जिन्हों
हमें नष्ट कर दिया है ? हिन्दुओ, सोचो, इन मन्दिरों औ
पुजारियों ने सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक परमेश्वर को हमसे दूर
कर दिया है. ये हमारे और हमारे भगवान् के बीच में ठेकेदार
बने बैठे हैं, हम अपनी गाढ़ी कमाई का सर्वाधिक पवित्र धन जो
देवार्पण करते हैं उसे ये पापी हमारे ही सामने रण्डियों और
शराब में खर्च करते हैं। ये मूढ़ पत्थर से भी अधिक हृदय-हीन
हैं। ये पुजारी जिन्हें देवता कहते हैं उन्हीं के सामने हमारी
बहन-बेटियों को घूरते हैं जो इन्हें दर्शन के योग्य समझती हैं
और अत्यन्त कोमलतापूर्वक मन्दिरों पर अन्ध-श्रद्धा रखती
हैं। इनसे हिन्दू-जाति को कभी कोई लाभ नहीं हुआ, न होने
की आशा है। हमें मन्दिरों का मोह मन से निकाल फेंकना
चाहिए। हमें प्रण करना चाहिए कि मन्दिर में एक पाई भी देना
... पाप है। हमें मन्दिर में दर्शन करने जाने की मूर्खता भी

त्याग देनी चाहिए। हमारे परमेश्वर हमारे घट में हैं। हमारी आत्मा उनमें ओत-प्रोत है। हमें अपने नित्य के जीवन को परमेश्वर में व्याप्त करना चाहिए। परमेश्वर के दर्शन करने के लिए मन्दिर जाना हास्यास्पद मूर्खता है जब कि वह सर्व-व्यापक है। परमेश्वर के नाम पर पैसा भेंट चढ़ाना भी गधापन है; क्योंकि वह संसार का स्वामी है—इन पुजारियों की भाँति लफंगा और भिखारी नहीं। क्या पाठकों ने कभी इस बात पर भी विचार किया है कि इन पुजारियों ने वेश्याओं को किस नफ़ासत के साथ मन्दिरों में स्थान दिया था? आज भी आप दक्षिण के मन्दिरों में, जहाँ पुजारियों का बोलबाला है और मन्दिर किले की भाँति हैं, एक-एक मन्दिर में हजारों-सैकड़ों देवदासियाँ पावेंगे जो सब वेश्यायें हैं। यदि आप गोआ के प्रान्त में जायँ तो वहाँ आप देखेंगे कि इन पतित पुजारियों ने जाति की जाति को वेश्या बना दिया है।

मैं आपको दृढ़तापूर्वक बताना चाहता हूँ कि प्राचीन काल के हिन्दुओं का कोई मन्दिर न था, वे मूर्ति की पूजा नहीं करते थे। वेद में मूर्ति-पूजा का कोई विधान नहीं है। वेद में उन देवताओं का भी कोई जिक्र नहीं है जिन्हें इन पेशेवर गुनाहगारों ने कल्पित करके झूठ और बेईमानी की दुकानें खोल रक्खी हैं।

यदि हम संसार के प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थ ऋग्वेद का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि उसमें सर्व संसार के रचयिता के साथ प्रकृति के दर्शनीय पदार्थों के प्रति आदर प्रकट किया गया है। वह आकाश, जो चारों ओर हमें घेरे है; वह सुन्दर और निर्मल प्रभात, जो गृहिणी की भाँति कामकाजी पुरुषों को जगाकर सुन्दर आलोक-दान करता है; वह सुन्दर

प्रकाशमान सूर्य जो पृथ्वी को सजीव करता है; वह वायु, जो संसार में व्याप्त है; वह अग्नि जो हमें प्रसन्न और सजीव रखती है; वे प्रचण्ड आँधियाँ, जो भारत की भूमि को उर्वरा करती तथा वर्षा के आगमन को प्रकट करती हैं, प्राचीन ऋग्वेद के ऋषियों के सम्मान एवं विचार की वस्तुएँ थीं और इन सबके निर्माणकर्ता के प्रति स्तुतिगान करना उनका स्वभाव था। वरुण, द्यु, इन्द्र, मित्र, आदित्य, सवितृ, अग्नि ये परमेश्वर के नाम उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकृति तत्वों का निर्माण करने के कारण रखे थे।

देवताओं को हम विकृत करते चले गये। इसकी मिसाल एक इन्द्र ही पर्याप्त है।

पुराणों में वेद का वह 'इन्द्र' जो सोम पीने वाला और युद्ध में आर्यों का सहायक तथा अनार्यों और दस्युओं का विध्वंसक था, स्वर्ग का विलासी राजा बन गया है। स्वर्ग के भड़कीले वर्णन को पढ़कर आश्चर्य होता है। असंख्य अप्सराओं, हाथी, रथ, सारथी, पत्नी और नाचने-गाने वाले गन्धर्वों से वह सदा घिरा रहता है, तथा नाच रंग में मस्त रहता है। स्वर्गीय वेश्यायें वहाँ स्वच्छन्द रीति से आती हैं। यह इन्द्र पद कठिन तपस्याओं से चाहे जो ले सकता है। फलतः बड़े-बड़े ऋषि-मुनि यह पद पाने को तप करते हैं। तब इन्द्र उन स्वर्गीय वेश्याओं को लुभाकर उनका तप भंग करने को भेजता है। ऐसी वेश्याओं से व्यभिचार करके अनेक ऋषियों ने अनेक प्रसिद्ध सन्तानें उत्पन्न कीं, जिनमें एक अमर सन्तान शकुन्तला भी है।

इन्द्र बहुधा असुरों से भयभीत रहता है और त्रिदेव से सहा-

यता माँगता है, पर वे स्वयं कभी सहायता नहीं करते—सिर्फ देवताओं को धीरज देते और युक्तियाँ बताते हैं।

इस प्रकार देवताओं के मानने से जो धर्म या सम्प्रदाय बने, उन्हें प्रसिद्ध इतिहास विलसन साहब ने गिन कर बताया है कि वैष्णवों के १६ सम्प्रदाय, शैवों के ११, शाक्तों के ४ और इनके सिवा और बहुत से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हैं।

वैष्णव सम्प्रदाय वास्तव में बौद्ध सम्प्रदाय का अनुकरण है। विष्णु की पूजा भी बुद्ध-पूजा का अनुकरण है, और श्रीकृष्ण के गोपियों के साथ विहार का वर्णन तो महाभारत भर में कहीं भी देखने को नहीं मिलता।

मनुशास्त्र, जो ईसा की प्रथम शताब्दी का ग्रन्थ है, मन्दिर के पुजारियों को क्रोध के साथ मदिरा और मांस बेचने वालों के तुल्य कहता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि छठी शताब्दी तक मन्दिरों और मूर्तियों का बहुत सत्कार बढ़ गया था। यह केवल भारतवर्ष में ही नहीं था, प्रत्युत् समस्त पृथ्वी की सभ्य जातियों में था। छठी और सातवीं शताब्दी के जितने ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें हमें प्राचीन यज्ञों का कोई भी ज़िक्र नहीं मिलता। राजा लोग अलबत्ता खास यज्ञ करते थे। वैश्य लोगों को प्रथम अपने घरों में होमाग्नि रखने और इच्छानुसार देव-पूजा करने का अधिकार था। अब पूजा का स्थान अग्नि के स्थान पर मन्दिर हो जाने से पुजारियों के अधिकार बहुत बढ़ गये और धूम-धाम के उत्सव तथा भड़कीली सजावटों ने सर्वसाधारण के ध्यान को इनकी तरफ़ बहुत-कुछ आकर्षित किया। कुछ ही शताब्दियों में समस्त हिन्दू-जाति का धन इन मन्दिरों में एकत्रित हो गया। राजाओं ने भूमि और धन का बेअन्दाज दान मन्दिरों को दिया।

भारत के बड़े-बड़े नगर मन्दिरों तथा मूर्ख पुजारियों से भर गये। सन् ७१२ ई० में जब मुहम्मदबिन क़ासिम ने राजा दाहिर को परास्त किया तब उसे सिन्ध (हैदराबाद) के एक मन्दिर से ४० तांबे की देगें भरी हुई मिली थीं जिनमें १७२०० मन सोना भरा था और जिसका मूल्य १ अरब ७२ करोड़ रु० होता था। इसके अतिरिक्त ६००० मूर्तियाँ ठोस सोने की थीं, जिनमें सबसे बड़ी का वजन ३० मन था। हीरा, पन्ना, मोती, मानिक इतना था जो कई ऊँटों पर लादा गया था। महमूद गजनवी ने ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ में नगरकोट के मन्दिर को लूटा और उसमें से ७०० मन अशर्फ़ी और ७०० मन सोने-चाँदी के बर्तन, ७४० मन सोना, २००० मन चाँदी और २० मन हीरा-मोती लूट में मिले थे। इसी साहसी योद्धा ने आगे बढ़ कर गुजरात के सोमनाथ का वह प्रसिद्ध मन्दिर लूटा था जिसमें अनगिनत रत्नजटित ५६ खम्भे लगे थे और मूर्ति के ऊपर ४० मन वज़नी ठोस सोने की जञ्जीर से घण्टा लटक रहा था। इस लूट की सम्पदा की कोई गणना हो न थी। यह हिन्दुओं के मन्दिरों के पुजारियों का संक्षिप्त वर्णन है।

बुद्धिमान् आदमी, मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या धर्म भी व्यवसाय की वस्तु है? क्या धर्म बेचा और खरीदा जा सकता है? क्या यह भण्ड पाखण्ड नहीं, कि धर्म को एक आदमी पुण्य समझे और दूसरा उसे पैदा करने का जरिया?

आप सारे हिन्दुस्तान में घूम जाइए, धर्म के व्यवसायों की सर्वत्र भरमार है। इन व्यवसायों की करोड़ों को आप को देख ... कलेजा थाम कर बैठ जायँगे। चाहे और किसी रोजगार ... हो या नुकसान, पर इसमें नफ़ा ही नफ़ा है। अमीर और

ग़रीब लोग, अन्धों और कुबुद्धों की भाँति, अपनी गाढ़ी कमाई धर्म खाते लगाते हैं। हज़ारों मन्दिर, हज़ारों क्षेत्र और हज़ारों ठाकुरद्वारे न जाने कितनी और ऐसी ही संस्थाएं—इस खाते में खोली गई हैं, और उनका करोड़ों रुपयों का अबाध व्यापार चल रहा है!

आप जाइये प्रयाग के गङ्गा सङ्गम पर! फूल-बताशे वाला कहता है एक पैसे के फल चढ़ाकर पुण्य लूटो। दूध वाला कहेगा एक पैसे का दूध चढ़ाकर पुण्य लूटो। पर ये लोग स्वयं न एक फल, न एक बूंद दूध ही चढ़ाते हैं। या तो इन्हें पुण्य लूटने की अपेक्षा पैसा लूटना अधिक प्रिय है और या ये जानते हैं कि इसमें पुण्य-उन्य कुछ नहीं, कोरा ढकोसला है।

एक बार हम त्रिवेणी-स्नान को गए। ये लोग डाकुओं और शिकारी कुत्तों की भाँति पीछे पड़ गए। दूध चढ़ाइए, गङ्गामाई पर फूल-बताशे चढ़ाइए यजमान! एक दूध वाला गङ्गा में घुसकर हमारे पास ही आगया और स्नान में बाधा डालकर बोला—दूध, चढ़ाइए, महाराज!

हमने गुस्सा पीकर कहा—इससे क्या होगा?

"पुण्य होगा—गङ्गा में दूध चढ़ाना हिन्दू धर्म है।"

हमने कहा—चढ़ा दो।

उसने ज़रा सी लुटिया में दूध उलटकर कहा—कितना, यजमान!

हमने कहा—इसमें है ही कितना, सब चढ़ा दो।

"दो सेर है बाबू!"

"सब उलट दो।"

बदनसीब ने सारा दूध गंगा में बहा दिया और निश्चिन्त

हो पाट पर बैठकर हमारे स्नान की प्रतीक्षा करने लगा। जब हम निवृत्त होकर चलने लगे तो बोला—पैसे दीजिए यजमान ?

"पैसे कैसे ?"

"दूध चढ़ाया था न।"

"फिर बुरा क्या किया था ?"

"तब पैसे दीजिए।"

"पैसे क्यों दें ?"

"आपके कहने से दूध चढ़ाया था।"

"हमारे कहने से पुण्य ही तो किया ? हर्ज क्या है?"

"परन्तु आपके नाम का चढ़ाया गया था।"

"अपने नाम का तुमने क्यों नहीं चढ़ाया ? क्या तुम हिन्दू नहीं हो ?"

"मैं ब्राह्मण हूँ।"

"यदि तुम चढ़ाओ तो पुण्य नहीं होगा ?"

"होगा क्यों नहीं।"

"फिर पुण्य लूटो। पैसे क्या करोगे ? क्या पैसे पुण्य से भी बढ़कर हैं ?"

हम चल दिये और वह घबराकर पीछे दौड़ा, बोला—महाराज, पुण्य आप लीजिए, मुझे तो पैसे दीजिए।

"क्यों, क्या पुण्य से तुम्हारा पेट भर गया है ?"

हम और आगे बढ़ गए, तब उसने रास्ता रोका। अन्त में पुलिसमैन को बुलाकर हमने उसका विरोध किया।

आप कहेंगे, चार पैसे के लिए ग़रीब को ठग लिया, पर ये जो पीढ़ियों से चार-चार पैसे ठगते चले आ रहे हैं, इसका क्या है ?

प्रयाग में जाइए—काशी, अयोध्या—जो चाहे जहाँ जाइए। उत्तर, दक्षिण में जहाँ भी तीर्थ हैं, धर्म व्यवसाइयों को अतिशय दुष्ट, निर्लज्ज, बेईमान, धूर्त, पाखण्डी और गुण्डे पावेंगे।

यदि आपने काशी और गया के पण्डों की गुण्डागिरी देखी है, तो आप समझ जायेंगे।

तमाम भारतवर्ष में मिला कर १,५०० से ऊपर प्रसिद्ध तीर्थ हैं, जिनमें अनगिनत मन्दिर और बेशुमार देवता बैठे-बैठे यात्रियों की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इन तीर्थों में प्रति वर्ष लगभग ५ करोड़ यात्री पहुँचते हैं और डेढ़ अरब से ऊपर धन जनता का इस मध्ये खर्च होता है, जिसमें से १० करोड़ के लगभग मन्दिरों, महन्तों और पुजारियों के पेट में आ जाता है!

इन में बहुत से पुजारी और महन्त राजा की तरह वैभव से से रहते हैं। उनके हाथी-घोड़े, महल, ठाठ-बाट सब हैं। बहुतों को राजा के अधिकार तक मिले हुए हैं। इनकी आमदनी अबाध है। ये सोलह आने इस धन के स्वामी है, जो देवता को चढ़ाया जाता है। ये लोग बहुधा वेश्यागामी, पर-स्त्रीगामी, लुच्चे-पाखण्डी और कुपढ़ हैं। दक्षिण के मन्दिरों में देवदासियों की घटना जिसने सुनी है, वह इस बात पर बिना अफ़सोस किये नहीं रह सकता कि धर्म के नाम पर व्यभिचार का समर्थन कितना गर्हित है! और भी बहुतेरे मन्दिर और सम्प्रदाय व्यभिचार की प्रवृत्ति को प्रश्रय देते हैं। वाममार्ग और चार्वाक सम्प्रदाय के सिद्धान्त जगत-व्यापक हैं।

लोगों में मूर्खता यहाँ तक फैल गई है कि बहुत लोग तीर्थों में अपनी स्त्रियों तक को दान कर देते हैं और फिर कुछ रुपयों में मोल ले लेते हैं। यह बात स्त्रियों के लिए तो घोर अपमान की

है ही, साथ ही इस मूर्खता का कभी-कभी मजेदार परिणाम निकलता है। पण्डे दान की हुई स्त्री को वापिस देने से इन्कार कर देते हैं और बड़ा फजीता होता है।

जिस देश में ४० वर्ष के भीतर १७ अकाल पड़ें और उसमें डेढ़ करोड़ आदमी भूख के तड़प-तड़प कर मर जायें; जिस देश में प्रति वर्ष १० लाख, प्रति मास ८६ हजार, प्रति दिन २,८८६, प्रति घण्टे १२६ और प्रति मिनट २ मनुष्य हाय अन्न! हाय अन्न! करते मर रहे हों; जहाँ ५० लाख भिखारी टुकड़ा माँगते फिरें; जहाँ १० करोड़ किसान एक पेट खाएँ, वहाँ ये मुस्टण्डे धर्म-व्यवसायी, जिनसे देश को कुछ भी लाभ नहीं हो रहा है, प्रजा की गाढ़ी कमाई का ६० करोड़ रुपया प्रति वर्ष खा जायें, जिनका सिर्फ सूद ही १० वर्ष में पहाड़ के समान हो जाता है! क्या देश इस पर कुछ विचार न करेगा?

आप नाथद्वारे जाइए। देख कर अक्ल हैरान हो जायगी। उस ऊजड़ और बीहड़ प्रान्त में कोई वस्तु दुष्प्राप्य नहीं। एक से एक बढ़िया खाद्य द्रव्य वहाँ आपको प्रस्तुत मिलते हैं। यह सब श्री ठाकुर जी के भोग की बदौलत। चार पैसे में ऐसा दूध लीजिए जैसे रबड़ी—केसर, कस्तूरी, मेवा मिला हुआ। वहाँ केसर कस्तूरी चक्कियों में पिसती है। गुजरात और दक्षिण के भक्तजन टूट पड़ते हैं। स्त्रियों की भक्ति की क्या कही जाय! ठाकुरजी के भोग की कथा सुनिएगा? एक बार किसी राजा ने एक बहु-मूल्य मोती मूर्ति पर चढ़ाया—उसे पीसकर उसका चूना बनाकर ठाकुरजी को भोग लगा दिया गया। सवा लाख रुपयों का भोग लगना साधारण है। बीस मन दूध का भोग लगता है। फिर सब अनावश्यक खाद्य पदार्थ पंडे लोग बाजार में बेचते हैं

और इस प्रकार यहाँ सदैव ही "टके सेर भाजी टके सेर खाजा" का मामला बना रहता है। यहाँ पुजारीजी को अपनी राज्य सत्ता प्राप्त है। परन्तु विचारने की बात यह है कि किसी भूखे को यहाँ एक दाना अन्न भी नहीं मिलता।

काशी और गया के पंडों और पुरोहितों का क्या कहना है! करोड़ों की सम्पदा के वे स्वामी बने हुए है।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य की सम्पत्ति भी असाधारण है! हरद्वार, ऋषिकेश में भी लाखों के स्वामी अनेक धर्मव्यवसायी हैं। गरज कि भारत का कोई कोना ऐसा नहीं बचा, जो इन धर्म व्यवसायियों से खाली हो।

मैं एक बहुत साधारण उदाहरण आपके सामने रखना चाहता हूँ। यहाँ दिल्ली मे नई दिल्ली आबाद होने से प्रथम एक रद्दी सा पुराना हनुमान जी का मन्दिर था। नई दिल्ली की बस्ती होते ही इसकी तक़दीर चेत गई। गर्मियों में तो साधारण ही दशा रहती है, मगर सर्दियों मे ज्योंही शिमला उतर आता है, मङ्गलवार को हजारों आदमियों का ठठ लग जाता है। मिठाई का ढेर लग जाता है। इनमें बड़े-बड़े पढ़े-लिखे ऊँचे दर्जे के आफ़ीसर लोग ही रहते हैं स्त्रियों का दल-बल सबसे अधिक रहता है। यह अभी आरम्भ है। मैं समझता हूँ कि अति शीघ्र वह दिन आएगा, जब यह मन्दिर बड़ी भारी जागीर बन जाएगा। मैंने इसके पुजारी को भी देखा है, जो अति साधारण आदमी है।

यह ६८ अरब रुपये का प्रति वर्ष अपव्यय देश के लिए कितना घातक है और इसके सदुपयोग की कितनी आवश्यकता है, यह विचारना चाहिए। आर्य समाज ने गुरुकुलों को खोलकर

और उनके वार्षिकोत्सवों को धार्मिक मेले का रूप देकर हमारे सामने एक नयी स्कीम रक्खी है। आज भारत के लगभग ७० लाख विद्यार्थियों पर जो इस समय स्कूलों, कालेजों में पढ़ते हैं, नई-नई विद्या के सिखाने के लिये इन डेढ़ अरब रुपयों का सच्चा सद्‌व्यवहार हो सकता है। ये बच्चे किस मँहगे ढङ्ग पर पढ़ते हैं और ग़रीब बच्चों का पढ़ना कितना कठिन है? क्या किसी मन्दिर के पुजारी या महन्त ने कभी किसी होनहार युवक को स्कॉलरशिप देकर किसी उच्च श्रेणी की शिक्षा प्राप्त करने में सहायता दी है?

हम यह मानते हैं कि कुछ महन्तों ने कुछ धर्मार्थ संस्थाएँ खोल रक्खी हैं। जैसे बाबा काली कमली वाले के औषधालय और क्षेत्र, इसी प्रकार और अनेक मन्दिरों में पाठशाला आदि। पर वास्तव में ये सब सेवाएँ नगण्य हैं। बहुत करके तो धोखे की टट्टी हैं, इन्हीं जालों पर कबूतर चुगते हैं और मुर्गियाँ फँसती हैं।

क्या इन मन्दिरों, महन्तों, धर्म-व्यवसायियों से किसी के शरीर या आत्मा को लाभ होना सम्भव है? आपके घर बैठ कर एक आदमी पूजा-पाठ, जप कर जाय और आप उसकी मजदूरी दे दें तो क्या उसका पुण्य आपको मिल जायगा? एक तो यही बात घोर सन्देहास्पद है कि ऐसे पूजा-पाठों में कुछ पुण्य है या नहीं। फिर हो भी तो वह करने वाले को मिलेगा या कुछ पैसे देकर आपको? क्या आपने काशी के दशाश्वमेध पर गोदान नहीं देखा, कि किस भाँति उसी ब्राह्मण की बछिया की पूँछ को छू-छूकर उसी को पैसा देने से लोग गोदान का पुण्य

लूट लेते है ? धर्म और भगवान् को इस प्रकार ठगना वास्तव में आश्चर्य का विषय है, नीच कर्म भी है।

एक समय था कि ईसाई लोग पदरियो के पाप क्षमा करते और स्वर्ग के लिए हुण्डी भेजा करते थे। भारतवर्ष मे भी मरे हुए इष्ट-मित्रों को आश्विन मे खाना पहुँचाया जाता है, पर हम यह पूछते है कि नव्य भारत मे भी क्या ये ढकोसले जीवित रहने चाहिए ? इनका नाश न होना चाहिए ?

हम कहते हैं कि इन धर्म व्यवसायियो का विना नाश किये हिन्दू बच्चों की दिमागी गुलामी कभी दूर नही होगी। श्रद्धा और भक्ति एक बड़ी चीज जरूर है, परन्तु उसमें विवेक और विचार-स्वातन्त्र्य का होना परमावश्यक है। अन्धविश्वास और मूढ़ता के कारण आत्मा के विरुद्ध केवल दिमागी गुलामी से बचने के लिए *आवश्यक है कि इन धर्म के पुराने ढकोसलों* को दृढ़तापूर्वक नष्ट कर दें। धर्म, गंगा में फूल और दूध चढ़ाना नही, महन्तों और गुसाइयों की सेवा करना नही, घण्टा, घड़ि-याल हिलाना नही, घन्टो मूढ़ की भांति आंख बन्द करके बैठना भी नही।

नव्य हिन्दू युवको ! इन मन्दिरों का तुम्हें स्वरूप परिवर्तन करना पड़ेगा और इनके स्थान पर नवीन मन्दिर बनवाने होंगे जहां तुम्हारे बच्चों को शिल्पकारी, सिपाही-जीवन और नाग-रिक बनने की रीतियां सिखाई जायेंगी। प्रकृति का ठीक-ठीक उपयोग ही सच्ची ईश्वर भक्ति है। जानवरों की भांति राम नाम रटना और मन को कुटिलता का घर बनाये रखना घोर पाप है।

इस धर्म पाखण्ड ने हजारों वीरों का लोहू पिया और लाखों

कुप्रथाओं को विशेष मान कराता है। इसने मनुष्यों के दिमागों को गुलाम बना रखा है। इसका इतना भारी दबदबा है कि बड़े-बड़े वीर, तेजस्वी, साहसी और तत्त्वदर्शी पुरुष भी इसके सम्मुख आगे बढ़ने से सिर उठाने का साहस नहीं कर सके। यदि हम मुस्तैद होकर इसका जड़मूल से नाश न करेंगे तो अवश्य ही हमारी जाति का नाश हो जायगा।

इस नकली, झूठे और निकम्मे धर्म का भाव भी बहुत ऊँचा चढ़कर उतरा। काशी और प्रयाग में लोग प्राण तक देते थे, परन्तु आजकल धर्म की दर कूड़े-करकट से भी गिरी हुई है। मन्दिर के पत्थर के सामने एक पाई फेंक देने से धर्म हो जाता है। किसी खास नदी में एक गोता लगाने, बड़, पीपल के ३-४ चक्कर लगाने, तुलसी का एकाध पत्ता चबाने, गाय का मूत्र पीने आदि से भी धर्म प्राप्त हो जाता है। एकाध दिन भूखा रह कर फिर भाँति-भाँति के माल उड़ाने से भी धर्म हो जाता है। माथे पर साढ़े ग्यारह नम्बर का साइनबोर्ड लगाने से भी धर्म होता है। किसी पाखण्डी ब्राह्मण को आटा, दाल दे देने, कुछ खिला-पिला देने या किसी भिखारी को एकाध धेला-पैसा दे देने से भी धर्म होता है।

रास्ते चलते किसी सिन्दूर लगे पत्थर को सिर नवा देने से भी धर्म होता है। अगड़म-बगड़म कोई खास श्लोक जिसे कोई भी पाखण्डी बता सकता है, जाप करने से धर्म होता है। नहाने से धर्म होता है, नंगे बैठकर और मेंढक की तरह उछल कर चौके में जाकर खाने से धर्म होता है। रात में न खाने से धर्म होता है। हाथों से बाल नोच लेने से, गन्दा पानी पीने से, मल-

मूत जमीन में गाड़ देने से धर्म होता है। मनों घी और सामग्री को अग्नि में फूंक देने से भी धर्म होता है।

अरे अभागे मनुष्यो। ज़रा यह भी तो सोचो—धर्म आखिर क्या बला है? यह धर्म है या धर्म-पाखण्ड। तुम उसके पंजे में क्यों फँसे हो? जातियों की जातियों का इस धर्म-संघर्ष में नाश हो गया, पर धर्म को मनुष्यों ने न पहचाना, बौद्धों ने सारी पृथ्वी को एक बार चरणों में झुकाया, पीछे उन्होंने रक्त की नदियाँ बहाईं। अन्त में नष्ट हुए। ईसाइयों ने भी मनुष्यों में हाहाकार मचाया। मुसलमानों के शताब्दियों तक मनुष्यों को सुख की नींद न सोने दिया। धर्म, मनुष्य जाति के हृदय पर दुर्भाग्य बना खड़ा है। पर मनुष्य उससे सचेत नहीं होता, सावधान नहीं होता।

अन्धविश्वास धर्म की जान है। अन्धविश्वासी कभी सत्यता की खोज नहीं कर सकता। अन्धविश्वास ने ही मनुष्य को धर्मनीति से फिसला कर रूढ़ियों का गुलाम बना दिया है। कुसंस्कार अन्धविश्वास का पुत्र है। जो अन्धविश्वासी हैं वे अवश्य ही कुसंस्कारी भी हैं।

तब वास्तविक धर्म क्या चीज़ है, इस बात पर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

मनुस्मृति कहती है कि धीरज, क्षमा, दया, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध ये धर्म के १० लक्षण हैं।

मैं उदाहरण के तौर पर दान को लेता हूँ। इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि दाता त्याग करता है, और उसका दिया हुआ धन अपेक्षाकृत अधिक लोक-सेवा में लग सकता है। परन्तु

भारतवर्ष में दिये हुए दान बहुधा तमोगुणयुक्त हो
दाता दान किसी मरता को, किसी विद्वान् को, कि
इसलिए नहीं देते कि वे उससे अपना विकास करें।
प्रायः दम्भ श्रद्धा या अन्ध मूढ़ दान होते हैं। जैनि
रुपयों के दान देकर अपने साम्प्रदायिक मन्दिरों क
की है। उनमें हीरे-मोती की प्रतिमाएँ और सो
दीवारें बनाई गई हैं। क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि
वीतरागी, सर्वत्यागी महात्माओं की मूर्तियों का इस
प्रदर्शन से क्यों उपहास किया जाता है? क्या वे प्रति
को बना कर चटाई की झोंपड़ी में नहीं पूजी जा सक
जैनी जो दया धर्म को प्रधान कार्य समझते हैं और
सम्बन्धी नियम बड़े कठिन, बड़े विकट और कष्टसाध्य
वे बहुत दर्जे तक उनका पालन भी करते हैं—और ऐसे
नित्य मन्दिर में जाते, भक्ति भाव से पूजा करते, व्रत
भी करते हैं, परन्तु दूकान पर आकर धर्म को खूँटी पर
हैं, दूकान पर झूठ बोलते हैं और निर्दयीपन करते हैं—वे
कीड़े-मकोड़ों पर तो दया दिखाते हैं, लाखों-करोड़ों की
धर्म खाते लगा देते हैं, पर किसी दरिद्र पावनेदार पर
भी नहीं छोड़ सकते। वे डिग्री करायेंगे, कुर्की लायें
उसके बर्तन बिकवाकर अपना पावना सूद सहित लेंगे।
धर्म किस मतलब का है? इस दया धर्म से जगत का,
समाज का क्या उपकार होगा? इन पन्ने की मूर्ति
सुनहरी दीवारों से, जगमगाते मन्दिरों से किसी का क्या
होगा? यह धर्म लानत भेजने योग्य है—यह दया ,और
का भयानक दुरुपयोग है।

मारवाड़ी समाज ने कुछ उच्चश्रेणी के दाता और देशसेवक पैदा किये हैं। उन पर मारवाड़ी समाज को ही नहीं, प्रत्युत् देश भर को अभिमान है। परन्तु इन महाशयों के दान क्या सच्चे दान हैं ? यह मैं मान सकता हूं कि ये दान देश में जनता के काम आये हैं पर जो लोग करोड़ों रुपये कमाने के ढंग बराबर जारी रख कर उसमें से कुछ लाख दान कर देते हैं उनके दान कभी भी धर्म दान नहीं कहे जा सकते। ये सब आसुरी दान है। क्या एक मनुष्य का करोड़ों रुपये कमाने के साधनों का अपने व्यक्ति के लिए उपयोग करना धर्म है ? क्या वे करोड़ों रुपये, लाखों मनुष्यों के परिश्रम का बेईमानी और धूर्तता से ठगा हुआ हिस्सा नही है ? जो मिल मालिक हैं और जिनकी मिलों में हजारों मजदूर काम करते है उनकी भीतरी दशा देखने ही से दुःख होता है और पाप की कमाई की असलियत खुल जाती है। वे लोग, स्त्री, पुरुष और बच्चे जी तोड़कर, अस्वास्थ्यकर और अवैज्ञानिक परिश्रम करते हैं। स्त्रियों को प्रसव के सुभीते नहीं। उन्हें इतना कम वेतन मिलता है कि वे सुथरे हुये ढगों पर नहीं रह सकते। यदि उनकी कमाई का हिस्सा एकत्र करने वाले करोड़पति घमण्ड से उसे अपना धन न समझ, दो-चार लाख का दान न करके इन्हीं मजदूरों का वेतन चौगुना कर दें तो कहीं ज्यादा पुण्य के भागी हों। क्योंकि वह रुपया तो उन्हीं की कमाई का है। यदि वे न कमायें तो पूंजी के द्वारा कोई भी धनपति रुपया कमा नहीं सकता। उस पर उनका अधिकार है। परन्तु कैसे मजे की बात है कि वे कमाने वाले मजदूर लोग तो कुत्तों की तरह मैले कुचैले, भखे नंगे और संसार के सब भोगों से रहित होकर जीवन व्यतीत करते हैं और उनकी कमाई

को हड़पने वाले, उनके रुपयों से सुनहरी दीवारों,के मन्दिर बनवाते हैं जिनमें होरों और पन्नों की प्रतिमाएँ रहती हैं।

अफ़सोस तो यही है कि इन स्वार्थी ठगों और लुटेरे अमीरों के दाँतों में उँगली डालकर गरीबों के हक के पैसे निकालने वाले अभी देश में नहीं पैदा होते। सेठ मोटेमलजी ने एक लाख रुपया अछूतोद्धार को दिया, उन्हें धन्यवाद है। अखबारों में मोटे हैडिंग छपते हैं। पर कोई सम्पादक यह नहीं पूछता कि यह रुपया देने में उन्होंने अपना कुछ त्याग भी किया है? उन्हें कुछ कष्ट भी इससे हुआ है? क्या उन्होंने अपनी रहने की कोठी बेचकर दिया है? या स्त्री के निकम्मे गहने बेचकर? या अपना अनावश्यक फर्नीचर बेचकर? हम तो देखते हैं कि सट्टे में बीस लाख कमाया, एक लाख दे दिया। वाहवाही लूट ली।

अजी, मैं यह पूछता हूँ कि मैं डाका डाल कर, खून करके या और कोई जालसाजी करके कहीं से दस-बीस लाख रुपया ले आऊँ तो उस में से लाख पचास हजार रुपये दान कर देने से मुझे क्या धर्म नहीं होगा? मेरा पाप नष्ट हो जायगा या नहीं? यदि नहीं होगा तो इन चालाक अमीरों के दान भी धर्म खाते नहीं समझे जायँगे, और उनके अपराधपूर्ण आमदनी के जरिये कभी क्षमा की दृष्टि से नहीं देखे जायँगे।

बड़े-बड़े व्यापारियों के यहाँ, कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली में एक धर्मादा खाता होता है। वे व्यापारी जितने रुपये का माल ग्राहकों को बेचते हैं उनसे कुछ धर्मादा भी लेते हैं। यह यद्यपि उनकी गाँठ का नहीं होता पर उसे स्वेच्छापूर्वक खर्च करने का उन्हें पूर्ण अधिकार होता है। और आप क्या कल्पना करते हैं कि यह रुपया किस काम में खर्च किया जाता है? वे बेईमान,

धूर्त, अमीर उससे अपनी बेटी का ब्याह करते हैं। मरे हुये माता-पिताओं का कारज करते हैं। मैंने स्वयं ऐसे उदाहरण देखे हैं। यह धन लाखों रुपयों की संख्या में एकत्र हो जाता है।

एक बार महामनीषि मालवीयजी ने कहा था कि हिन्दू जितना दान प्रतिवर्ष करते हैं उतने में १० यूनीवर्सिटियाँ चलाई जा सकती हैं। परन्तु खोज करके देखा जाय तो हिन्दुओं के दान से व्यभिचार और पाप के अड्डों का ही निर्माण होता है, देश का लाभ तो बहुत ही कम, किसी ही सुपात्र के दान से होता है।

मैं फिर कहता हूं, देश के व्यापारी जो अपनी भयानक मशीनों और रहस्यपूर्ण बहीखातों तथा पापपूर्ण सट्टों और जुआ-चोरियों के द्वारा करोड़ों रुपये कमाने और उनमें से लाखों दान करते हैं, वे कभी भी धर्म के अधिकारी नहीं, क्षमा के योग्य भी नहीं। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि ये व्यापारी देश के पुत्र नहीं, देश के साथ उनकी कोई सहानुभूति भी नहीं। देश के दुःख के साथ उनका दुःख और देश के साथ उनका सुख भी नहीं। वे विदेशी सरकार की भाँति, तस्मे के लिये भैंस हलाल करने वाले निर्दयी स्वार्थी हैं जो महँगाई बनाये रखने के लिए सभी सद्-असद् उपाय सदा काम में लाते रहते हैं।

ये श्रीमन्त व्यापारी केवल बड़े-बड़े दान करके देश के भाई या धर्मात्मा नहीं बन सकते। इनके लाखों रुपये के ये दान पाप [illegible] कमाई का हिस्सा है जो सट्टा, सूद, हरामीपन और गरीबों [illegible] पसीने से निचोड़ी हुई है। प्राचीन रजवाड़ों में राजा लोग [illegible]कू लोगों से लूट का भाग लिया करते थे और वह रकम पाकर [illegible]नकी तरफ से आँख मीच लिया करते थे। ऐसे दानों को [illegible]हण करने वाले भी उसी श्रेणी के हैं। ऐसे धन को दान करने

वाले तो पापिष्ठ हैं ही, स्वीकार करने वाले भी धर्म-भ्र
हैं जो भोजन भी अन्यायी का दान और आतिथ्य स्वीका
करते। महापुरुष कृष्ण ने जिस धीरता से दुर्योधन का
स्वागत और आतिथ्य अस्वीकार करके धर्मात्मा विदुर का
आतिथ्य स्वीकार किया था, सो विचारने के योग्य है।

यदि कोई अमीर अपने गगनचुम्बी महलों को सामने
होकर ढहा दे, या उन्हें अस्पताल बनवा दे, ठाठ-बाट की
जवाहरात, जेवर, जायदाद, सब सार्वजनिक सेवा में दान
और भविष्य में देश के साथ मजूरी करके खाय, जैसा कि
खाता है, वैसे ही घरों में रहे जैसे में देश रहता है, और
के बाद देश के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर सार्वजनिक
करे—कटे, मरे, जिए, फले, फूले, तो निस्सन्देह वह धर्मात्मा

राजा महेन्द्रप्रताप और दवार गोपालदास के दान
राजनैतिक भावनाओं से परिपूर्ण हैं, पर वे मेरी दृष्टि में
दान की श्रेणी में हैं।

भाग्यहीन दारा, जब औरंगजेब द्वारा पकड़ा जाकर जल
के साथ एक गन्दी और नंगी हथिनी पर दिल्ली के बाजा
घुमाया गया, जहाँ वह सदा ही हीरे-मोती लुटाता निक
था, तब एक भिखारी ने उसे देखकर इस प्रकार कहा—
ओ बादशाह ! तूने हमेशा ही कुछ न कुछ मुझे दिया, आज
कुछ दे। दारा के पास कुछ न था, वह जो वस्त्र पहने था,
उसने उतारा और भिक्षुक को दे दिया !!

महाभारत में एक सुन्दर कथा का उल्लेख है—

जिस समय सम्राट् युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ समाप्त कि

और विश्व भर की सम्पदा को दान कर दिया, तब उन्हें कुछ गर्व हुआ और कृष्ण से कहने लगे कि महाराज ! अब मैं सार्वभौम पद का अधिकारी हुआ।

भगवान् कृष्ण कुछ न कह पाये थे कि इतने में एक अद्भुत मामला हुआ। सबने देखा—एक नेवला जिसका आधा शरीर सोने का और आधा साधारण है, किसी तरफ से आकर यज्ञ के पात्रों में लोट रहा है। सब लोग परम आश्चर्य से इस जीव को देखने लगे। तब कृष्ण ने कहा—हे कीट-योनि-धारी ! तुम कौन हो ? यक्ष हो कि पिशाच, देव हो या दानव, सत्य कहो। तुम किस अभिप्राय से पवित्र यज्ञ पात्रों में लोट रहे हो ?

सबको चकित करता हुआ वह जीव मनुष्य वाणी से बोला —"हे महाराज ! मैं न यक्ष हूँ न देव ; मैं वास्तव में क्षुद्र कीट हूँ। बहुत दिन हुए एक महान् पात्र के अवशिष्ट जल में मुझे स्नान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस पवित्र जल से मेरा आधा शरीर भीगा था, उतना ही वह सोने का हो गया। मैंने सुना था कि सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिर ने महायज्ञ किया है। मन में विचारा कि चलो मरती जाती दुनिया है—एक बार लोट कर बाकी का आधा शरीर भी स्वर्ण का बनालूं। इसी इरादे से आया था, परन्तु यहाँ तो ढाक के तीन ही पत्ते दीखे, नाम ही था। मेरा इतने दूर का प्रवास व्यर्थ ही हुआ। मेरा शरीर तो वैसा ही रहा।"

बात सुनकर युधिष्ठिर सन्न हो गये। उन्होंने उत्सुकता से पूछा कि "भाई, वह कौनसा महान् राजा था जिसने भारी यज्ञ किया था ? दया कर उसका आख्यान सुनाकर हमारे कौतूहल को दूर करो।"

नेवले ने शान्त वाणी से कहना शुरू किया—"एक बार देश में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा, बारह वर्ष तक वर्षा न हुई। पशु पक्षी सब मर गये। वृक्ष वनस्पति सब जलकर राख हो गई। मनुष्यों के कंकालों के ढेर लग गये। वृक्षों की पत्ती, जड़ और छाल तक लोग खा गये। मनुष्य मनुष्य को खाने लगा। ऐसे समय में एक छोटे से ग्राम में एक दरिद्र ब्राह्मण परिवार रहता था। उसमें चार आदमी थे—एक ब्राह्मण, दूसरी उसकी स्त्री, तीसरा उसका पुत्र और चौथी पुत्रवधू। इस धर्मात्मा का यह नित्य नियम था कि भोजन से पूर्व वह किसी भी अतिथि को पुकारता था कि कोई भूखा हो तो भोजन करले। यह नियम इसने इन दुर्दिनों में भी अखण्ड रक्खा। भूख के मारे चारों अधमरे हो गये थे। सप्ताह में एकाध बार कुछ मिलता, पर नियम से ब्राह्मण किसी अतिथि को पुकारता। इस काल में अतिथि की क्या कमी थी? कोई न कोई आकर उसका आहार खा जाता था। एक दिन पन्द्रह दिन के पीछे कुछ साधारण द्रव्य मिला। जब चार भाग करके चारों खाने बैठे—तब फिर उसने किसी भूखे को पुकारा और एक बूढ़े ने आकर कहा—मैं भूख से मर रहा हूँ, ईश्वर के लिए मुझे भोजन दो। गृहस्थ ने आदर से बुलाया और अपना भाग उसके सामने धर दिया। खा चुकने पर जब उसने कहा—अभी मैं और भूखा हूँ। तब गृहिणी ने, और उसके पीछे बारी-बारी से पुत्र व पुत्र-वधू ने भी अपने-अपने भाग दे दिये। इतने पर अतिथि ने तृप्त होकर आशीर्वाद दिया और हाथ धोकर वह अपने रास्ते लगा। वह धर्मात्मा ब्राह्मण परिवार भूख से जर्जरित होकर मृत्यु के मुख में गया। उस अतिथि ने जो अपने मुँह हाथ धोये थे, उस पानी से जा उस महात्मा का घर गीला हो

गया था उसमें मैं सौभाग्य से लोट लिया था। पर उस पुण्य जल में मेरा आधा ही शरीर भीगा—वह उतना ही स्वर्ण का हो गया! अब शेष आधे के स्वर्ण होने की कोई आशा नहीं है। आधा शरीर चर्म का लेकर ही मरना होगा।"

क्षुद्र जीव की यह गर्वीली कथा सुनकर युधिष्ठिर की गर्दन झुक गई और अपने तामसिक कर्म तथा गर्व पर लज्जा आई।

हमारी राय में सच्चा धर्म वह है जिससे मनुष्य मनुष्य के प्रति उत्तरदायी हो। प्राणी मात्र के प्रति उत्तरदायी हो। धर्म वह है जिसके आधार पर मनुष्य अधिक से अधिक लोकोपकार कर सके। धर्म वह है जिससे हृदय और मस्तिष्क का पूरा विकास हो। दया धर्म है, प्रेम धर्म है, सहनशीलता धर्म है। उदारता धर्म है, सहायता धर्म है, उत्साह धर्म है, त्याग धर्म है।

हे हिन्दू जाति के आशास्तम्भो! हे मेरे प्यारे नवीन कुमारो और कुमारिकाओ! इसी नवीन धर्म को हृदयंगम करो जिस से तुम्हारा मस्तिष्क और हृदय कमल-पुष्प की भाँति खिल जाय और तुम मन-वचन से और कर्म से किसी के गुलाम न हो।

धर्म वह है जो स्वाधीनता, प्रकाश और जीवन दे, धर्म वह है जो जातियों को संगठित करे, प्राणियों को निर्भय करे, जीवन को सुखी और सन्तुष्ट करे। धर्म के ढकोसलों को त्यागो, नवीन धर्म को ग्रहण करो। तुम्हें आनन्द प्राप्त होगा।

इस बात की परवा न करो कि तुम्हारी इस स्वतन्त्र भावना में तुम्हारे बुजुर्ग लोग बाधा देंगे। मैं कहता हूँ कि तुम उनकी आज्ञाएँ मानने से इन्कार कर दो, जिन्हें तुम अपनी दृष्टि में मूर्खतापूर्ण, अव्यावहारिक और अपनी आत्मा की आवाज़ के विपरीत समझते हो।

६

अस्पृश्यता-त्याग

महात्मा गाँधी ने आमरण उपवास करने का संकल्प प्रकट करके एक बारगी ही पृथ्वी भर का ध्यान भारत के अभागे अछूतों की तरफ आकर्षित कर दिया था। जिस शर्त पर उन्होंने इस उपवास का अनुष्ठान किया था, वह पूरी की गई और महात्माजी के शब्दों में यह व्रत स्थगित कर दिया गया। स्थगित करने की बात कहकर महात्माजी ने यह चेतावनी हिन्दू समाज को दी कि तुम अछूतपन को नष्ट कर दो, वरना मैं तुम्हारे लिए व्रत करूँगा और प्राण दूँगा। फिर दुबारा उन्होंने २१ दिन का व्रत किया और भारत के सौभाग्य से इस कठिन अग्नि-परीक्षा में से अछूते निकल आये। पर उनका कहना था कि आवश्यकता पड़ने पर वह इसी प्रकार का उपवास और भी रक्खेंगे।

इस बात से भीरु हिन्दू डर गये हैं और वे जल्दी-जल्दी अछूतोद्धार करने की चेष्टाएँ कर रहे हैं। कहीं कोई श्राद्ध में ब्राह्मणों के स्थान पर भङ्गियों को जिमा कर उन्हें दक्षिणा देने लगा, कहीं कोई मन्दिरों के पट अछूतों के लिए खोलने लगा, कहीं कोई लाखों रुपया चन्दा कर करके अछूतोद्धार का लम्बा-चौड़ा बन्दो-

वस्त करने लगा ! हिन्दू सभा से लेकर साधारण हिन्दू संस्थाओं तक, बड़े-बड़े व्यक्तियों से लेकर नगण्य मनुष्य तक अछूतोद्धार के सम्बन्ध में कुछ न कुछ सोचने लगे। परन्तु मुझे इन सब उद्योगों के होते हुए भी अछूतोद्धार होने की तनिक भी आशा नहीं है।

इसके निम्नलिखित कारण हैं—

१—हिन्दुओं के हृदय में अभी तक अछूतों के प्रति बराबरी का भाव नहीं पैदा हुआ है, न उनके पुराने कुसंस्कार दूर हुए है। वे केवल महात्माजी की धमकी से बेतरह डरकर ऐसा करते थे। ठीक उसी प्रकार जैसे मुण्डचिरो को देखकर दब्बू बनियाँ पैसा फेंककर जान छुड़ाता है। तत्कालीन अंग्रेजी सरकर महात्माजी के प्राण-त्याग से डर गई थी, इसलिए कि पृथ्वी की महाजातियों में हलचल मच जायगी। उसी भाँति हिन्दू डर गये इस बात से कि महात्माजी ने प्राण त्यागे तो हमें बड़ा पाप लगेगा।

मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि वे करोड़ों अछूतों को भयानक पतन में डालने को पाप नहीं समझते, वे सिर्फ महात्मा जी के प्राण-त्याग को पाप समझे थे और उससे भयभीत होकर बहुतों ने महात्माजी के अनुकल कुछ चेष्टाएँ की थीं। अलबत्ता, कुछ इने-गिने कई आदमी भी हो सकते हैं। पर उनकी गणना करना व्यर्थ है।

२—दूसरा कारण यह है कि हमने अपने जीवन को ऐसा बना रखा है कि अछूतों की हमें अनिवार्य आवश्यकता बनी हुई है। उस आवश्यकता को नाश करने की हम तनिक भी चेष्टा अभी तक नहीं कर पाये हैं। और जब तक हमें अछूतों की आवश्यकता है, हम अछूतपने को कैसे दूर कर सकते है। उदाहरण के लिये भंगी के प्रश्न को लीजिये। नगरों और क़स्बों में प्रत्येक

घर में गन्दे, घृणित पाखाने हैं। सौ में पाँच आदमियों ने अ
पाखानों में कुछ भी सुधार नहीं किया। यदि एक दिन भी
साफ़ नहीं करता, तो घर भर सड़ जाता है। भंगी के लिये
अनिवार्य है कि वह टोकरों में मैला भरकर सिर पर लाद
दूर तक ले जाय। वहाँ दूसरा भंगी मुहल्ले भर के मैले को ग
में भरे खड़ा है, उसमें उसे भी डाल दे।

प्रातःकाल जब हमारी बहनें और बेटियाँ स्नान, सन्
पूजा कर पवित्र हो, धर्म पुस्तकों का पाठ करती हैं, तब
हमारी भंगिन बहनें और बेटियाँ मैले से भरे टोकरे भर-भर
लादती हैं। उन्हें मैले से भरे हाथों से रोटियाँ और जूठन भ
गन्दे वस्त्रों में लेनी पड़ती हैं और खानी पड़ती हैं। इस रोमां
कारी भयानक दण्ड को जिसे नित्य हिन्दू देख रहे हैं, क्या कि
भी विचारशील गैरतमन्द मनुष्य के लिए देखना सम्भव है
हिन्दू जाति के आदमी इन नीच और घिनौने दृश्यों को मह
देखते ही नहीं, उसकी सारी जिम्मेदारी भी उन्हीं पर है।

३—तीसरा कारण जो अछूतों को अछूत बनाये हुए है उनक
पीढ़ियों से गिरी हुई माली हालत से सम्बध रखता है। वे सर
से जूठन खाते आये हैं, झोंपड़ों में रहते आये हैं, फटे चिथड़े पहन
आये हैं। उनके जीवन अतिशय बीभत्स हो गये हैं। जिन लोग
में जाग्रति उत्पन्न हुई है वे बहुत कम हैं। अधिकांश तो चुपचा
अपने पतित जीवन को काट रहे हैं। वे अपने जीवन में उतने ह
सन्तुष्ट हैं जितना कोई भी अधम कीड़ा अपने अधम शरीर में
मैंने देखा है कि विवाह-शादियों में जूठन के बँटवारे पर वे लड़ते
हैं। अमुक घर का कमाना किसके अधिकार में है, इस प्रश्न पर

फट मरते हैं। अब क्या आप सोचते हैं कि वे आपकी चेष्टाओं से लाभ उठा सकते हैं ?

अब तक हिन्दू समाज ने अछूतों के उद्धार को दो चेष्टाएँ की हैं : १—उन्हें मन्दिरों में प्रवेश अधिकार देने का निश्चय किया है : २—उनकी शिक्षा और संस्कृति के उद्योग में कुछ रुपया खर्च करने की इच्छा प्रकट की है।

प्रथम उपाय से आगे चल कर कुछ लाभ हो सकता है। पर उसकी वर्तमान में कोई हस्ती नहीं है। भंगी आजीविका के लिये परिवार सहित दोनों समय ३०/४० घरों का मल-मूत्र सिर पर ढोता है, उसी घरों के जूठन से पेट पालता है, उतरन से बदन ढाँपता है, और भयानक दरिद्रता से जीवन व्यतीत करता है। उसका मन्दिर में जाने से क्या उपकार होगा ? और ऐसी परिस्थिति में मन्दिर ही की पवित्रता की रक्षा कैसे हो सकेगी ? यह तो उसी प्रकार का पतन है कि जिस प्रकार आज हम लोग जूता पहनकर रोटी खाना सीख गये हैं, उसी भाँति जूता मन्दिरों में पहन कर भी जायेंगे। परन्तु शौच की मर्यादा कहाँ जायगी जिसकी हमें कम से कम मन्दिरों में—जो पवित्र और अति मूल्यवान् भावनाओं के विकास के स्थल मात्र बने हुए हैं—रक्षा करनी चाहिए।

शिक्षा के लिये आप अधिक से अधिक अछूतों को पकड़ सकते हैं। कल्पना कीजिये कि अछूत बालक को आपने पढ़ाना शुरू किया। वह नित्य पढ़ कर ज्ञान और विकास प्राप्त करता है, पर अपने माता-पिता और परिवार के साथ रहता है, जिनकी दशा में कोई हेरफार नहीं है, वहीं खाता है और उन्हीं के साथ सोता है। स्कूल में वह शुद्ध रहने की शिक्षा पाता है, पर माता-

रिता थे गाय मांगे हुए जूठन पर पेट पालता है। इधर बड़े होकर उसने ऐन्ट्रेन्स पास किया, उधर एक भंगी की लड़की से शादी की, जो उसी भांति पाखाना कमाती है। अब आप कहिए कि इससे क्या लाभ हुआ ? आप यह चाहते हैं कि जिन अछूत बालकों को आप शिक्षा दें वे अपने परिवार से सम्बन्ध विच्छेद कर लें, यह तो कोई समाज-सुधार का तरीका नहीं है।

अछूतोद्धार एक ही रीति से होगा, वह यह कि अछूतों की आवश्यकताओं को नष्ट कर दो। अछूतपन के रोजगारों और अजीविकाओं का बीज-नाश कर दो। प्रत्येक शहर में भंगियों को समझा दो कि वह पाखाने कमाने से इन्कार कर दें। उनके लिए छोटी-छोटी कारीगरी के स्कूल खोल दो और प्रत्येक तीसरे महीने उन्हें ५०) १००) का मजदूर बनाकर निकालो। पाखाने किस भांति साफ होंगे, यह देखना म्यूनिसिपैलिटियों का काम है। वह फ्लश-सिस्टम बनायें या प्रत्येक गृहस्थ स्वयं अपना भंगी चने। अन्य ऐसी ही अछूत जातियों को तथा खानाबदोशों को भी नागरिक बनाओ। उन्हें अच्छे धन्धे सिखाओ। उनके अपने पुराने रोजगारों को नष्ट कर दो। फिर वे आपके मन्दिरों के मुहताज न रहेंगे। स्वयं मन्दिर बना लेंगे और स्वयं उनका विकास और उद्धार हो जायगा। यदि तुम्हारी अपनी उनके उद्धार की इच्छा नहीं तो महात्माजी की इच्छा से अछूतोद्धार की चेष्टा न करो।

समस्त भारत में दक्षिण प्रान्त छुआछूत के लिये बहुत अधिक बदनाम है। शायद लोगों को यह पता नहीं है कि दक्षिण के ब्राह्मण इतने घमण्डी हैं कि वे उत्तर भारत के मनुष्य मात्र को अछूत की भांति ही समझते हैं। वहाँ के मन्दिर ब्राह्मणों के गढ़

हैं। उस प्रदेश में ब्राह्मणों के चलने के मार्ग पर अछूत नहीं चल सकता। हां, ईसाई, मुसलमान मजे में जा सकते हैं।

वे दिन बीत गये कि हम अछूतों के सम्बन्ध में शास्त्रों की व्यवस्था ढूंढ़ते फिरें। हम शास्त्रों और उनकी मर्यादा-पालन करने वाले ढोंगी पन्थियों की अपेक्षा ७ करोड़ मनुष्यों की ज्यादा कीमत समझते है। हम ७ करोड़ नर-नारियो को जीते जी सामाजिक कब्र मे नही दफन कर सकते। अगर आज हम उनकी तरफ से ऐसा करने की बेवकूफी करेंगे तो हमारे पैर कट जायेंगे। यह असम्भव है कि अब अछूत अछूत बने रहे। यदि हम उन्हे उठने नही देगे तो वे स्वयं ही उठ खड़े होगे और तब वे हमारे न होगे। हमारी राष्ट्रीय विपत्ति को दूर करने का एक मात्र सहारा ये अछूत हैं। इनमें क्या मानवीय गुण नही, क्या जीवन नहीं, साहस नहीं, सगठन नही? हमारे बराबर अभागा और पतित कौन है जो ७ करोड़ मनुष्यो की अवहेलना करके उन्हें अपनी आस्तीन का सांप बनाये? इस धर्म-ढकोसले के आधार पर हमने अपने सगे भाइयो को धक्के दे देकर ईसाई और मुसलमान बना लिया जो हमारे पल्ले मे आग के अगारे की भांति बँधे हमें स्वाहा कर रहे हैं। क्या हम यह चाहते हैं कि सभी अछूत हम से छिन जायें?

यदि हमारा यही एक मात्र कर्तव्य है कि हम उन्हे स्वाधीन करें तो हमारा पहिला काम यह है कि हम ऐसे मकानात निर्माण करें, ऐसा जीवन व्यतीत करें कि हमें अछूतो की बिलकुल आवश्यकता न रह जाय। दूसरी बात यह है कि जब तक यह काम असम्भव हो, हमें उनके प्रति उदार होना चाहिए। हम उन्हें अधिक से अधिक वेतन दें। अधिक से अधिक सुविधाएँ दें। जहा

न्न न दें, फटे वस्त्र न दें। शुद्ध रहने की सलाह दें। विश्वास करें, आदर से सम्भाषण करें, सामाजिक सहयोग दें। धीरे-धीरे उनका साहस और आत्मगौरव उदय होगा। उनमें मान की, मर्यादा की मरी हुई भावना उत्पन्न हो जायगी और वे समाज के सब से बड़े और मजबूत ठोस खम्भे साबित होंगे।

हमें भलीभाँति यह समझ लेना चाहिये कि अछूतों की बाबत हमें अपने ही खून से लड़ना है। वे हिन्दू बेगैरत हैं जो यह चुपचाप देखते रहें कि हमारी लाखों बहिन-बेटियाँ ७ करोड़ मुसलमानों के मलमूत्र चुपचाप अपने सिरों पर टोकरों में भरकर ढोती रहें। भंगी और चमार हिन्दू हैं और वे हिन्दू ही रहेंगे। इन्सानियत और न्याय के नाम पर हमारा यह कर्तव्य है कि हम उन्हें हर तरह अपने बराबरी या भाई बनने को स्वाधीनता और सहायता दें। साथ ही गैरत के नाम पर हमारा यह भी फर्ज है कि जब हम किसी भंगिन को मैला सिर पर धरते हुए देखें तो इस बात को महसूस करें कि हमारी बहिन-बेटी की हद दर्जे की बेइज्जती हो रही है। आपको यह बात खूब अच्छी तरह समझ लेनी होगी कि नवीन हिन्दू राष्ट्र का कोई भी आदमी किसी गैर जाति की नीच सेवा न करने पायेगा। हमारे अछूत भाई भी ईसाइयों, योरोपियनों और मुसलमानों की नीच सेवाएँ न करने पायेंगे। यह मत समझिये कि आप भंगियों से उसी भाँति इतनी महीने पर अपने पाखाने भी कमवाते जायेंगे और उनके राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की मर्यादा का पालन भी कराते जायेंगे। हमारा पहला काम तो यह होगा कि हम उनसे पशुओं की भाँति अनिवार्य योनि से नीच सेवाएँ न ले सकेंगे। इसी भाँति चमारों का मरे पशुओं की खाल उधेड़ना, मुसलमान व्यापारियों से चमड़े आदि

का व्यापार करना, स्त्रियों से व्यवसाय-सम्बन्धी ऐसे काम कराना जिनमें ग़ैर जाति के लोगों को स्त्रियों पर हुक्म चलाने और गालियाँ देने का हक़ हो, बन्द कर देने होंगे।

७ करोड़ अछूत हमारे सब से अधिक परिश्रमी और दृढ़ भाई हैं। ७ करोड़ मनुष्यों की सेना बहुत होती है। ७ करोड़ मनुष्य पूरे इंग्लैंड में नहीं हैं। हम ७ करोड़ मनुष्यों के सवाल को उपेक्षा से नहीं देख सकते। हमें इस विषय में बहुत अधिक क्रियात्मक काम करना पड़ेगा।

मैं जानता हूँ, इस हमारे क्रियात्मक कार्य का विरोध अनेक पुराने ढंग के हिन्दू करेंगे—पर वे चाहे हमारे बुज़ुर्ग हों चाहे सम्बन्धी, हम अवश्य उनसे लड़ेंगे। हम अपनी टाँगें नहीं कटने देंगे, चाहे हमारे पिता ही क्यों न काटने आयें। हमारे सामने बहुत बड़े राष्ट्र के मरने-जीने का प्रश्न है। इसके सामने तुच्छ लिहाज़ और संकोच की कोई हस्ती ही न समझनी चाहिये।

७

कुशिक्षा का बहिष्कार

प्राचीन रोम का सेनापति जब ग्रीस के एक नगर का शास
बनाया गया तब वहाँ की लड़ाकू वीर प्रजा को कड़ाई से दब
के लिये अधिकारियों ने कड़े से से कड़े हुक्म भेजे। उन्होंने सा
आज्ञाएँ दीं कि उस मुल्क के प्रत्येक सरकश आदमी को तलवा
के घाट उतार दो और जबर्दस्त हुकूमत करो। किन्तु उसने अप
अधिकारियों की आज्ञाओं को नहीं माना। जब वह अपन
शासनकाल पूरा करके लौटा तो उस पर आज्ञा न मानने क
अपराध लगाया गया। उससे पूछा गया कि तूने उस मुल्क वे
सरकश आदमियों को शेरों से क्यों नहीं फड़वा डाला और तल
वार से क्यों नहीं मरवा डाला? उसने मुस्करा कर उत्तर दिया
कि वैसा करना मैंने अनावश्यक समझा। मैं उनकी आगे तक
की नस्ल को नष्ट कर देने का प्रबन्ध कर आया हूँ। जब उससे
प्रबन्ध के बारे में पूछा गया तो उसने कहा: "मैंने उस मुल्क में
३०० से अधिक पाठशालाएँ खुलवा दी हैं जहाँ रोमन भाषा और
रोमन सभ्यता की शिक्षा उस मुल्क के बेसमझ बच्चों को बच-
पन से पढ़ाई जा रही है। इससे उनकी नस-नस में रोमन उद्ध-

ष्टता और स्वजाति की हीनता भर जायगी, वे सब रोम के दास, रोम के भक्त, रोम के नक्काल और रोम के शिष्य बन रहे हैं। तीसरी पीढ़ी में वे रोमन बन जायेंगे।"

एक बार मुझे लाहौर में एक काले ईसाई नौजवान से बात-चीत करने का मौका हुआ। पर वह आदमी सचमुच काला था और पूरे साहबी ठाठ में था। वह मेरे पास चिकित्सार्थ आया था। बातों ही बातों में मैंने उससे पूछा कि तुम लोग किसलिये अंगरेज़ी वेश, भाषा और धर्म को पसन्द करते हो? क्या तुम नहीं जानते कि यूरोपियन तुम से घृणा करते है? उसने दृढ़ता-पूर्वक जवाब दिया कि वे भले ही घृणा करें, हम अपनी हैसियत की परवाह नहीं करते, हम अपनी तीसरी पीढ़ी की तैयारियाँ कर रहे हैं। इस पीढ़ी में हम नेटिव क्रिश्चियन हैं, दूसरी पीढ़ी में यूरेशियन बनेंगे, और तीसरी में योरोपियन बन जायेंगे!"

युवक की दुराशा पर मुझे तरस आया। इस समय शिक्षा का वर्णन करते समय मैं युवक की बातों में और उस रोमन अधिकारी की बातों में एक डरावना तथ्य पाता हूँ।

जब मध्यम और उच्च श्रेणी के युवकों के आचार, विचार, सभ्यता, रहन, सहन, विश्वास पर दृष्टि डालता हूँ तो मुझे अपनी आत्मा का जवाब मिलता है कि धर्मान्ध मुसलमानों की तलवार ने हिन्दुत्व पर जो चोट की थी, उसकी अपेक्षा अंग्रेजी शिक्षा की चोट कुछ अधिक है। सिंह के रूप में सिंह होना और गाय के रूप में सिंह होना, दोनों में अन्तर है—एक में पराक्रम और वास्तविकता है, दूसरे में छल है। सिंह को सामने देख कर आदमी सावधानी से रहेगा। किन्तु गाय के रूप में जो सिंह है

उससे सावधानी असम्भव है। मुसलमानी तलवार यहाँ सिंह के रूप में सिंह थी, और अंग्रेजी शिक्षा गाय के रूप में सिंह है।

दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता के बाजारों में हिन्दी, उर्दू, मराठी, गुजराती साहित्य की कई दूकानें हैं, पर सब अपने कर्मों को रो रही हैं, किन्तु जब मैं अंग्रेजी पुस्तक-विक्रेताओं की दूकानों को देखता हूँ तो मेरे होश उड़ जाते हैं। एक-एक दूकान में पचास-पचास आदमी काम कर रहे हैं। ग्राहकों का मेला लगा रहता है। थेकर, मेकमिलेन, तारापारवाला, ये दुकानें नहीं हैं—कागजों के भव्य सफेद पर्वत हैं। इन्हें देखकर मैं मन में सोचता हूँ, कौन मूर्ख इस स्थान का हिन्दुस्तान कहता है? हिन्दुस्तान में अंग्रेजी साहित्य का यह विराट् रूप आज भी वैसा ही है।

बड़े-बड़े समुन्नत परिवारों में मैंने देखा है कि अंग्रेजी शिक्षा ने उन्हें भारतीय संस्कृति से दूर कर दिया है। उन धन कुबेरों के परिवारों में मैं क्या देखता हूँ कि रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल, सब अंग्रेजी है। टोपी अंग्रेजी, बाप, भाई, मित्र की बात-चीत की भाषा अंग्रेजी, बूट और पतलून अंग्रेजी, बाल अंग्रेजी, मेज, कुर्सी, चाय-पानी, नाश्ता भी अंग्रेजी। केवल एक चीज हिन्दुस्तानी है—काला रंग। वह किसी तरह अंग्रेजी नहीं हुआ। स्त्रियों की कुर्तियाँ अंग्रेजी छाँट की जिसमें छाती का बड़ा भाग नंगा रहता है। पुरुषों के साथ हाथ मिलाने और चाय पीने में कोई बाधा नहीं।

एक नई जातीयता बनने लगी थी। उसकी एक भाषा, एक भेष था, उसका रक्त हिन्दुतानी का था पर रूह अंग्रेजी। जो यह बन जाती तो हिन्दुस्तान अपने लाखों वर्ष के हिन्दुत्व को

खो देता। यह एक डरावना दृश्य था, प्रत्येक हिन्दू यूरोपियन हो गया था।

पर इसमें व्याघात पहुँचा है। क्यों? सो आगे मालूम होगा। यहाँ एक ही बात कहने की है कि इन कुलीन घरों में जो यह सब हुआ वह इसी अंग्रेजी शिक्षा का परिणाम था। पंजाब केशरी के अबोध बालक दिलीप सिंह को उसकी माता के अधिकार से छीन कर क्यों अंग्रेज व्यक्ति की संरक्षा में उसे पाला गया? क्या इसीलिये वह अपने धर्म और राज्य को गँवा कर ईसाई न हो गया? और समझदार होने पर क्या उसे ईसाई होने पर घृणा न हुई? यह बहुत सोचने की बात है।

यह शिक्षा नहीं थी, जहर था जो हिन्दुस्तानियों को मारने के लिए नहीं वरन् हिन्दुस्तान का नेस्तनाबूद करने के लिये दिया गया था। ईसाइयों को अस्पृश्य समझने वालों के बेटे आज ईसाइयों के गुलाम, ईसाइयों के भक्त और ईसाइयों की भाषा, भाव और वेश के धारी बन गये!

इस शिक्षा का इरादा क्या था? नवयुवकों को जीवन-निर्वाह के योग्य बनाना! कितने युवक जीवन-निर्वाह के योग्य हुए हैं? स्कूलों में कोई उद्योग-धन्धा सिखाया गया? उनको आचार, धर्म की शिक्षा दी गई? मिशनरियों के स्कूलों में हिन्दू बालक-बालिकाओं को क्यों बाइबिल अनिवार्य्य रूप से पढ़ाई गयी? न जाने कितनी लड़कियाँ इस हत्यारी शिक्षा के प्रभाव से माँ-बाप की नाक काट कर ईसाई बन गयीं, न जाने कितने जवान अन्धे होकर ईसाई बन गये!!!

गुल खिल गया। सब कुछ पर्दे से बाहर आ गया। नीतिहीन, आदर्शहीन, स्वास्थ्यहीन, स्वावलम्बन की योग्यताहीन, अंग्रेजी

कालेज, स्कूलों से छूटे हुए नौजवान, पराई भाषा और पराये वेश को धारण किये अपनी योग्यता का सुवंन का बण्डल बगल में दबाये गुमनामी की खोज में जूतियाँ चटकाते फिरने लगे। कदाचित् ही किसी देश में पढ़ेलिखों का इतना अपमानपूर्ण जीवन व्यतीत होता होगा जितना भारत के अंग्रेजी शिक्षा पाये जवानों का हमारे देशों में है। उनके गाल क्यों पिचक गये, वे क्यों फिजूलखर्च और शौकीन हो गये? वे विदेशी काट के कपड़े पहनना ही क्यों पसन्द करने लगे ? अपने बुजुर्गों पर और धर्म पर उनकी श्रद्धा क्यों नहीं रही ? क्या इसका यह उत्तर नहीं है कि सरकारी स्कूलों में उनकी कच्ची उम्र से ही उन्हें ऐसा बनाने का अभ्यास बलपूर्वक कराया गया ? मुझे खूब याद है जब मैं छोटी कक्षा में स्कूल में पढ़ता था, तब पैजामे की जगह धोती पहन कर आने के कारण मुझे अनेकों बार मास्टर की चपत खानी पड़ी थी ! क्यों ? क्या धोती कुछ सुन्दर या यथेष्ठ वस्त्र नहीं है, और क्या वह पैजामे से कहीं अधिक स्वच्छ नहीं रहती ? हमारे स्कूलों में बेंचों और कुर्सी पर बैठना क्यों सिखाया गया ? हमारे घरों में तो ये सब वस्तुयें न थीं। पर अब तो धरती पर बैठा ही नहीं जाता ! टाँगें अकड़ जाती हैं। कुर्सी खरीदनी ही पड़ी। यदि अंग्रेज़ी सरकार ईमानदारी से ही शिक्षा फैला कर भारत का अविद्या-अन्धकार से उद्धार करने वाली थी तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि उसने कितना अन्धकार दूर किया है ? कितने कवि, कितने दार्शनिक, कितने अविष्कारक और कितने लेखक भारत में अंग्रेज़ी तालीम पाकर तैयार हुए ? जिसकी हिम्मत हो जवाब दे ! शिक्षा फैलाने की डींग हाँकने वाले मुझे

समझा दें कि उनकी बी० ए०, एम० ए० की डिग्री का मूल्य कितनी कौड़ी रहा।

वही न यह भारत है जहां का वायुमण्डल विश्व भारती की हवा से ओतप्रोत हो रहा है, जहां कोष भी कविता में लिखे गये। अभी कुछ दिन पूर्व गाँव-गाँव में आशु कवि थे, वे आज कहाँ मिट्टी में मिल गये? यह नालायक बी० ए० की डिग्री जिस तरह युवकों को मूँज की तरह अकड़ा देती है, काश उसी तरह यदि कबीर, नानक, रहीम और तुलसीदास पैदा कर सकती! न होता वर्ड्सवर्थ, टेनीसन, बायरन ही पैदा करती, मगर किस तरह? इस शिक्षा का उद्देश्य तो अंग्रेजों की नकल था! यह शिक्षा नहीं थी बगावत् थी, झूठ था और पाजीपन था। जिस तरह हरामजादे नौकर किसी अमीर के बच्चों को तरह-तरह के शौक दिला कर सिलौने-मिठाई आदि पर जी ललचाकर उन्हें ज़िद करके बाप से पैसे लेने का हठ करने की शिक्षा देते हैं, जैसे बेई-मान और लफंगे मुसाहिब किसी नये अमीरजादे को तरह-तरह के व्यसनों में फँसा कर आप गुलछर्रे उड़ाते हैं—उसी तरह अंग्रेजों ने इस शिक्षा-वेश्या की आड़ में हमारे बच्चों को धोबी का कुत्ता बना दिया। सद्दर की मिरजई और एक धोती जोड़े को पहन कर जो महाशय लाखों का कारबार करते-करते बालक से बूढ़े हुए, उनके बेटों को इस शिक्षा ने २०) गज की सरज का कोट और सफेद फलालैन की पतलून पहनना सिखाया। विलायती कम्पनी के जूते, कालर, टाई बिना पहने शायद वे शिक्षित कहना ही नहीं सकते थे, क्योंकि शिक्षा कुछ मन की तो है ही नहीं, वह शरीर की है। हिन्दुस्तान के लोग पहले शायद कौवों की बोली बोलते थे। बेचारे अंग्रेजों ने उन्हें मनुष्यों की भाषा सिखलाई! जिन घरों

में स्त्रियाँ गहनों से लदी रहती थीं, वहाँ बढ़िया साड़ी औ
ब्लाउजों में सोने का रुपया विलायत जाता रहा, पुराने सीधे-स
घरों में जो कुछ जमा पूँजी थी, उसके स्थान पर मेज-कुर्सी, ट
टॉय फिस !! मैं पूछता हूँ कि किस अधिकार पर अंग्रेजों
हिन्दी प्रजा के घर में यह मनमाना उथल-पुथल किया ? अ
इस कृत्य पर उन्हें लाज क्यों नहीं आई ? उन्होंने प्रजा के नैति
और धार्मिक जीवन को नाश करने और आत्मिक मान को म
डालने के ही इरादे से तथा शेर के बच्चों को बकरी की तर
पालतू बनाने के लिए ही अपनी मनमानी शिक्षा भारत में फैला
थी। हाय ! हम कैसे मूर्ख है ! हमने अपने बच्चे दुश्मनों के हाथ
में सौंप दिये थे। एक ओर हम ईसाइयों से घृणा करते थे, क्रस्तान
का शब्द हमारे परिवारों में घोर तिरस्कार-व्यंजक था, अंग्रेज
के नौकर होने पर भी हमने न पतलून पहनी, न अंग्रेजी ढं
ढंग सीखे, हम हिन्दुस्तानी रहकर ही पेट के लिए अंग्रेजों की
नौकरी करते रहे; पर जब गुलामों की टकसालें अंग्रेजों ने खोल
दी तो हमने चाव से अपने बच्चों को वहाँ भेजा, हम अन्धे बन
गये। हमने देखा, हमारा बच्चा अब सन्ध्या नहीं करता। बिना
स्नान किये जलपान करने में भी उसे आपत्ति नहीं। उसने बूट
पहना है, पतलून भी सिलवाई है। उसने मेज-कुर्सी खरीदी है।
घरों को उसने आफ़िस बना दिया है। हम तब भी न समझे।
जैसे मूर्ख माँ-बाप बच्चों को गाली देते या मारपीट करते देख कर
कौतूहल से हँस देते हैं वैसे ही हमने भी यह सब परिवर्तन कौतुक
से देखा। जब लड़के ग्रेजुएट हुए, इधर इनका ब्याह हुआ, उधर
उन्हें आफ़िस में नौकरी मिली, तो उसे सती साध्वी स्त्री मूर्ख
जँचने लगी। माँ-बाप भी मूर्ख जँचने लगे। अभागे नौजवान

अपने को मूर्खों की औलाद कह कर कुढ़ने लगे ! अभागे हिन्दू माँ-बाप की आँखें अब भी न खुलीं।

बताओ, आज हिन्दुत्व कहाँ है ? नवीन सभ्यता के गुलाम, आज के शिक्षित युवक, यूरोप की बड़ी-बड़ी जातियों के इतिहास तो जानते हैं—पर अपना कुल-गोत्र नहीं जानते ! इसी हिन्दुत्व को फाँसी लगाने का सारा षड्यन्त्र हुआ था, उद्ग्रीव हिन्दू यदि हिन्दू रहते तो क्या वे अंग्रेजों की गुलामी कर सकते थे ? अंग्रेजों ने उन्हें चुपचाप हिन्दुत्व से हटाकर ईसाइयत पर, गोरेपन पर लट्टू किया। इसका परिणाम न केवल यही हुआ कि अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी वेश देश में व्याप्त हो गया, बल्कि असंख्य हिन्दुओं के नौजवान खुल्लमखुल्ला धर्म त्याग कर ईसाई हो गये।

कन्याओं पर और भी अपमानजनक हमले हुए, पर्दे की ऊँची दीवारों में उन्हें बेपर्द बीवियों के पैरों में बैठाकर ईसाइयत सिखाई गई। सिर्फ ईसाइयत ! इन सब मामलों में कितने बड़े घर तबाह हो गये हैं, यह बात साधारण नहीं है। स्टेशनों पर हमारे धर्म के मेलों पर, गंगा के पर्व पर गली-गली हमारे ही भाई मुसलमान और हिन्दू आज मसीह के गीत गाते फिरते हैं। उनकी दुर्दशा तो उनके जीवन से ही प्रकट हो रही है, पर उससे अधिक दुर्दशा यह है कि ये अभागे चारों ओर से घृणा के पात्र और तिरस्कृत बन गये हैं।

एक बार मैं अपने एक प्रतिष्ठित मित्र के साथ हवाखोरी को गया। प्रातःकाल का समय था। सुन्दर हरी-भरी पहाड़ियों के बीच में एक हरियाले मैदान पर स्वच्छ जल की कुदरती छोटी सी झील थी। सोने की तरह दोपहर की सूर्य-किरणों में उसका जल चमक रहा था। उस झील के बीचोंबीच एक टेकड़ी पानी

के ऊपर निकल आई थी। उस पर बहुत ही सुन्दर सफद रंग के कई जल पक्षी बड़ी सुन्दर पंक्ति में बैठे चहक रहे थे। उन्हें देख-कर मेरे मित्र ने कहा—"अहा, देखो ये सुन्दर पक्षी एक पंक्ति में इकट्ठे बैठे कैसे सुन्दर मालूम देते हैं।" मैंने उन पर चाह की एक दृष्टि डाली और फिर मित्र की तरफ तीव्र दृष्टि से देखकर कहा—

"यह इनका सौभाग्य है कि ये अंग्रेजी पढ़े-लिखे नहीं हैं। नहीं तो आज ये इस भाँति निश्चिन्त हो कर इस बेफिक्री और प्रेम से यहाँ बैठकर प्रकृति का आनन्द नहीं ले सकते थे। पेट के लिये एक उधर टेकड़ी पर चोंच रगड़ता, दूसरा उस ठूँठ पर झख मारता, तीसरा वहाँ जंगल में भटकता। ये लोग अपने बैठने की जगहों में हद बनाते, उसके लिये लड़के-मरते, हुकूमत का खयाल रखते, अदब क़ायदे से बैठते।"

मेरे मित्र ने उस समय हँसकर मेरी बात टाल दी। वे बहस करना नहीं चाहते थे। परन्तु बहुत समय तक उन पक्षियों का वह सौन्दर्य मेरे मस्तिष्क में घूमता रहा।

मैं जब-जब पढ़े-लिखे डिग्री पाये हुए युवकों को निस्तेज मुख, पीला गात, गढ़े में धँसी हुई आँखें, पिचके गाल, गद्गद् वाणी, काँपते हाथों से जिस-तिस के दरवाजे पर अपनी लियाक़त की खुर्चन जेब में भरे भटकते और धक्के खाते देखता हूँ, तब-तब वे पक्षी मेरी आँखों में तस्वीर की भाँति आ बैठते हैं। मैं सोचा करता था कि क्या मनुष्य ही के भाग्य फूटने को थे? क्या अप-मान और तिरस्कार का अभिशाप अभागे भारत के युवकों ही की किस्मत में था।

अब से ६०-७० वर्ष पूर्व प्रत्येक पुरुष पूरा क़द्दावर, पुष्ट,

नीरोग और परिश्रमी होता था। प्रत्येक के चार-चार, छः-छः लक्कड़ के समान ठोस जवान बैठे होते थे। कोई निपूता नहीं था, एक जवान जब लकड़ी पकड़ता था तब ५० की मण्डली को भारी हो जाता था। आज लोगों में से सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति क्षीण हो रही है। यदि किसी के सन्तान होती भी है तो निस्तेज, मरी-गिरी, रोगी और अपाहिज। उन्हें वे स्कूल के मुर्गीखाने में पिटने और गालियाँ खाने को भेज देते हैं। बेचारे फूल से बच्चे आँसू पीते हैं, ग़म खाते हैं, थर-थर काँप कर दिन काटते हैं।

क्या कभी हमने इस बात पर भी विचार किया है कि क्यों इनसे मर्दानगी रूठ गई है, उठाव मसल डाला गया है, ये मुर्दे, कमज़ोर, रोगी और नपुंसक नौजवान घरों में पड़-पड़े टुकड़े तोड़ रहे हैं।

माता-पिता समझते थे कि बच्चों को स्कूल भेज कर हम उनकी शिक्षा की तरफ से बिलकुल बेफिक्र हो गये और हमने अपने कर्तव्य का पालन कर लिया है। जो माता-पिता अंग्रेज़ी स्कूलों में अपने बच्चों को अन्त तक भेजते रहते हैं वे मानो आदर्श माता-पिता है, पर किसी ने यह भी जाकर ग़ौर से देखा है कि वहाँ स्कूल में बच्चे किस भाँति क्या पढ़ते हैं?

वे दुबले-पतले बच्चे, मन मारे, डर से थर-थर काँपते हुए, सख्तों की बेन्चों पर व सील भरे कमरे में अर्थहीन और अनावश्यक बातों से परिपूर्ण गन्दी किताबों पर अनिच्छापूर्वक दृष्टि जमाये बैठे रहते हैं, उनके सामने साक्षात् दुर्भाग्य की मूर्ति, क्रोध के अवतार, महामूर्ख, टूटी लियाक़त, मगर सरसपाती बेंत हाथ में लिये मास्टर साहेब (?) अपनी नौकरी हलाल करते बैठे

रहते हैं। उनके पवित्र मुख से अलाय-बलाय जो कुछ भी निकले
ह यदि लड़के की अक्ल में तत्काल जमकर न बैठ जाय तो
फेर *तड़ातड़ बेंतों की मार से गरीब बालक की खाल उधड़*
ाती है। इसके बाद वह क़साई उसे मुर्गा बनाकर खड़ा कर
ता है। गालियों की तो कोई चर्चा करना ही फिजूल है। इस
कार छोटे लड़के पिटने के डर से तथा बड़े लड़के परीक्षा में फेल
ोने के डर से, शुरू से आखीर तक पढ़ते हैं। ऐन्ट्रेन्स तक
हुँचते-पहुँचते वे प्रेम को रसीली कविताएँ पढ़ना, आशिकी
जमून के खत लिखना, माँगें निकालना, कालर टाई लगाना,
तलून पहनना, खड़े होकर मूतना और सिगरेट पीना तथा
ाइसकोप देखना सीख लेते हैं। यदि वह किसी गरीब कारीगर,
ुहार, सुनार, बढ़ई, दर्जी का बेटा हुआ तो अपने पैतृक कार्यों
ं पिता की सहायता करना, अपने पैतृक कार्य में दिलचस्पी
ताना उसके लिये घोर अपमानजनक हो जाता है, उसके लिये
बसे अधिक सम्मानजनक बात किसी दफ्तर में क्लर्की की
ौकरी मिल जाना है। वह गधे की भाँति पुस्तकों से लद कर
ालेज जाता था और पागल की भाँति रात-दिन किताबें खोल
र बड़बड़ाया करता था।

किसी भी भाषा के साहित्य के भावों को हृदयंगम करने के
लये उस भाषा पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है। एम० ए०
क की शिक्षा पाने पर भारतीय युवक कहीं इस योग्य होते हैं
ि वे किसी तरह अंग्रेजी साहित्य के भावों को हृदयंगम कर
कें। इस तक पहुँचते-पहुँचते उन्हें पूरे १२ वर्ष लग जाते हैं।
रन्तु इस बीच में वे विचार और भावना की शक्ति से कुछ भी
ाम नहीं लेते, इसलिए वह मुर्दा जाती है। उसका विकास नष्ट

हो जाता है। विदेशी भाषा की पुस्तकों के भाव तब तक हृदयंगम नहीं हो सकते जब तक स्मृति का उदय न हो।

जब हम राम, कृष्ण, भीष्म के उपाख्यान पढते है तब बराबर हमारे हृदयों में एक स्मृति का उदय होता है, और हमें उसमें कुछ स्वाद मिलता है, परन्तु भारतीय बालक को भारत के वातावरण से बिलकुल ही पृथक् वातावरण के देश के सम्बन्ध में कहाँ तक कल्पना का आनन्द प्राप्त हो सकता है? बी० ए० में पहुँच कर एकदम भावना की आवश्यकता पडती है, पर अब तक अविकसित रहने से जो भावना मुर्झा गई थी, वह अब कहाँ से आयेगी? परिणाम यह होता है कि भारतीय युवक नोट्स याद करके ही लेखकों का मतलब समझने की चेष्टा किया करते हैं।

सब से भयानक एक बात जो हमारे युवकों के मस्तिष्क में अँग्रेजी तालीम ने पैदा कर दी है वह यह है कि उनके आदर्श उनके जीवन के अनुकूल नहीं रहे। शेक्सपियर के नाटकों और अन्य कवियों के ग्रन्थों में वे जैसी नायिका की तस्वीर मन पर अंकित करते हैं वैसी नायिका उन्हें सचमुच कभी नहीं मिलती। और जब ऐसे शिक्षित युवक का ब्याह गाँव की एक मुग्धा बालिका के साथ होता है और वह स्वर्गीय प्रेम और लज्जा रूपी रत्न के ढेर को आँचल में छिपा कर उसके मार्ग में आती है तब वह उसे नहीं रुचती। आज इसी कारण अनगिनत गृह-कलह हमें भारतीय युवकों की गृहस्थी में देखने को मिलते हैं। माता-पिता के साथ सहकुटुम्ब रहना उन्हें असह्य सा प्रतीत होता है।

इसके बाद जब वे एम० ए० में दर्शन, न्याय, कवित्व तथा साइन्स के महत्वपूर्ण सबक़ पढ़ा करते हैं, तब वे अपढ़, गँवार,

बाप-भाई, अड़ोसी-पड़ोसी को तुच्छ दृष्टि से देखा करते हैं, उ
मूर्ख समझते हैं, वे अपने को अपने अभागे देश से कहीं ऊँ
समझते हैं और इस देश में पैदा होना अपने लिये दुर्भाग्य क
बात समझते हैं। पर जब पूरी किताबों को निगल कर, पा
होकर, बाहर आते हैं और सार्टिफिकेट के बंडलों को दबा क
साहबों के दफ्तरों में मक्खी की भांति भिनभिनाते गुलामी क
ढूंढते फिरते हैं, और वहाँ फटकार, गाली, लात, घूँसा, जुर्मा
और डिसमिस की चपेट खाकर साल ही भर में ढीले हो जाते है
तब उन्हें पता लगता है कि कवित्व, तर्क, साइंस के सिद्धांत यहा
कुछ भी तो काम नहीं आ रहे ! जगत भर का भूगोल और
दुनिया भर के बादशाहों की मृत्युतिथि कुछ भी तो काम नहीं
आती। अतः वे अपनी योग्यता पर भरोसा न करके खुशामद
पर बसर करते हैं और इसी के आसरे अपना पतित जीवन
काटते हैं। क्या कोई भी राष्ट्र ऐसे बेग़ैरत, अयोग्य, खुशामदी,
पेटू और नामर्द जवानों से कुछ आशा कर सकता है ?

एक बार मैंने एक छोटी बच्ची को अँधेरे में बिल्ली की आँखें चमकते देखकर यह कहते सुना—अम्मा देख, बिल्ली के सिर में दो तारे हैं। एक बालक ने बड़े-बड़े बादलों को देखकर कहा था—देखो, देखो, यह बैल है। एक छोटी सी बालिका ने अपने पिता के खेतों पर ओस की बूंद देखकर कहा था कि हाय ! हाय ! बेचारे रात भर रोते रहे हैं।

मैं पूछता हूं कि यह कल्पना, यह उपमा, यह अलंकार क्या साधारण है ? यह विकास का बीज क्या इन बच्चों की उच्च प्रतिभा का द्योतक नहीं ? पर आप क्या समझते हैं कि वह कन्या गार्गी, उभय, भारती बन कर आर्य महिलाओं का गौरव

चढ़ायेगी ? और ये बालक क्या वाल्मीकी या कालीदास बन सकेंगे ? नहीं। वह कन्या किसी दरिद्र अर्धशिक्षित क्लर्क की जोरू बन कर शीत ठंड में जूठे बर्तन मांजती होगी, और वह बच्चा किसी आफ़िस में अफ़सरों की ठोकरों में क्लर्क की कुर्सी पर बैठकर मेज पर झुके हुए कागजों का मुंह काला कर रहा होगा।

हाय, भारत की सन्तान पैदा होते ही क्यों न मर गई ? इसकी माँ ने बांझ होने की दवा क्या न खा ली ? क्या हिन्दुओं के महान राष्ट्र का निर्माण इन्हीं लोगों से हो सकता है ?

ऋषि दयानन्द का कथन था—"स एव देशः सौभाग्यवान् भवति, यस्मिन्देशे ब्रह्मचर्यस्य, विद्याया, वेदोक्त धर्मस्य यथा-योग्यः प्रचारो जायते।"

आर्यसमाज के नेताओं ने इसी आदर्श पर गुरुकुलों की स्थापना की थी, पर शोक है, उनसे देश की वह आवश्यकता पूरी नहीं हुई, जिसकी देश में कमी थी। गुरुकुल के स्नातक भी आज साधारण दुर्बलताओं से परिपूर्ण युवक ही प्रमाणित हुए। महात्मा हंसराज ने लाहौर में डी० ए० वी० कालेज खोला, और पंडित मदनमोहन मालवीय ने हिन्दू विश्वविद्यालय। पर ये सब उन्हीं जहरीले लड्डुओं पर चाँदी के वर्क साबित हुए। ये स्कूल कालेज भी गुलामों की ढलाई की टकसालें साबित हुए, फिर भी इनसे भारतीय जीवन का बहुत विकास हुआ।

जिनके जवान बेटे जनाने हो गये, जिनके बेटे पराई गुलामी के आसरे जी रहे हैं, जिनके बेटे पराई भाषा बोलते, पराया वेश धारण करते, पराया काम करते और पराये ढंग से रहते हैं,

उन माता-पिताओं को यदि उनमें गैरत है तो संखिया खा लेना चाहिए।

जिस शिक्षा ने हमारे नवयुवकों की छाती का खून चूसा है, असली आँखों की ज्योति मार डाली है, उनकी जवानी का रस पी लिया है, उसे अधमरा कर दिया है, और उसे धोबी का कुत्ता बना दिया है—उसका नाश कर डालिए। आज ही उसका यथार्थ योग है।

अंग्रेजी सरकार को इस बात का बड़ा गर्व था कि उसने भारत में शिक्षा का प्रचार किया है। परन्तु जानने वाले जानते है कि फीसदी २·८ बच्चों को ब्रिटिश भारत म शिक्षा मिलती थी। इसका अर्थ यह था कि लगभग कुल ६४ लाख लड़कों और १२ लाए लड़कियो को, इस प्रकार लगभग ७६ लाख बच्चों को शिक्षा दी जाती थी। इनमे से लगभग ५५ लाख विद्यार्थी ४-५ साल पढ़कर छोड़ देते थे जिनका पढ़ना न पढ़ना सभी बराबर था। उनमे १६ लाख तो पढ़ ही सकते थे, खत भा नहीं लिख सकते थे। इन आंकड़ो को निकालकर कुल २१ लाख आदमी शिक्षा पा रहे थे जो हद दर्ज की भयानक कमी थी।

जीवन, खासकर मानवीय जीवन संघर्षमय है। जो जाति संघर्ष से थकती नहीं, और ऊबती नहीं, वही जीवित जाति है। संघर्ष की शक्ति और योग्यता प्राप्त करने की कुंजी शिक्षा है। वह शिक्षा जो माता के समान पोषित करने वाली है, वेश्या के समान खून चूसने वाली नहीं, जिस शिक्षा से आत्मा का, शरीर का भला हो, देश की सेवा हो, वह शिक्षा मनुष्यों की माता है। आज हमें गुलाम क्लर्क बनने के जीवन को अस्वीकार कर देना चाहिये। हमें चमारों, दर्जियों, रंगरेजों, मनिहारों,

कुम्हारों, सुनारों और खातियों के यहाँ झुण्ड के झुण्ड आकर उनका काम सीखना चाहिये। हमें ईंटें बनाना, चूना फूंकना, मशीन चलाना, खेती करना, इमारत बनाना सीखना चाहिये। हमें जुलाहे बनने की आवश्यकता है जिससे हम अपनी बहू-बेटियों की लाज ढक सकें।

यदि हम छोटे-छोटे घरेलू धंधों को अपनी शिक्षा का केन्द्र बना लेंगे तो हम यहाँ इस शैतानी कालेज की शिक्षा से बहुत अधिक सफलतापूर्वक अपने जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

हमें प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि जीवन में सिर्फ लताफत पैदा करने वाली शिक्षा का हम बहिष्कार करेंगे और उसी शिक्षा को हम अंगीकार करेंगे जो हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में हमारी जीवन-संगिनी रहेगी।

स्वभाषा, स्वभाव और स्वदेश | ८

कोई भी ग़ैर क़ौम की गवर्नमेण्ट ऐसा नहीं कर सकती कि वह अपनी पराजित की हुई और वश में आई जाति की भाषा और भावों को स्वाधीन, उन्नत और समृद्धिशाली होने दे। विदेशी सरकार के लिये पराजित जाति के अपने भाव और अपनी भाषा वास्तव में भय की वस्तु है। समय के फेर में आकर बड़ी-बड़ी जातियाँ गिर कर तबाह हो जाती हैं। पर जो अपनी भाषा को और अपने भावों को नहीं त्यागतीं, वे शीघ्र उठतीं और अपने नष्ट गौरव को प्राप्त कर लेती हैं।

फ्रांस पर जब जर्मनी ने बिस्मार्क के जमाने में हमला किया था, तब जर्मन सभ्यता और शिक्षा फैलाने का बहुत बड़ा आयोजन फ्रांस में किया गया था। स्थान-स्थान पर जर्मन भाषा पढ़ाने को स्कूल खोले गये थे, अदालतों में जर्मन भाषा प्रयोग की गई थी और जर्मनी की बनी वस्तुएँ फ्रांस के बाजारों में भर गई थीं। मगर फ्रांसीसियों को जर्मन शब्द से क़ै आती थी। उन्होंने अपने बच्चों को पढ़ाना बन्द कर दिया और स्कूल बराबर खाली पड़े रहे। बाजारों में जर्मन माल को देखकर प्रत्येक

फ्रांसीसी नाक सिकोड़ लेता था, ग़रज़ इस उद्योग में जर्मनी नें पूरी हार खाई।

आर्यों की प्राचीन सभ्यता जो हज़ारों वर्ष तक तत्कालीन मुख्य-मुख्य जातियों के अध्ययन की वस्तु बनी रही उसका कारण उन आर्यों की भाषा और भाव की मौलिकता तथा एकान्तता ही थी। आर्यों की भाषा और भावों की द्योतक सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद अमिट प्रभावशाली है और आज तक उसकी मौलिकता वैसी ही है। उसके बाद यजुर्वेद और दर्शन शास्त्रों एवं अन्य आध्यात्मवाद के विषयों की भी मौलिकता आज तक बनी है। यहाँ तक कि घमंडी यूरोप को उन विषयों के ज्ञान के लिए हार कर वे ही ग्रन्थ पढ़ने पड़ रहे हैं। जर्मन और इंगलैंड के विद्वानों के सामने जब बीसवीं सदी की आज की तारीख में भी हम उपनिषद, दर्शन, अर्थशास्त्र, मीमांसा, ज्योतिष और वैद्यक के प्राचीन ग्रन्थ रक्खे देखते हैं, और हज़ारों वर्ष पहले मरी हुई आर्य सभ्यता के ध्वंसावशिष्ट भाषा और भावों को आदरपूर्वक मनन करते देखते हैं तो यह बात समझ में आ जाती है कि जब आर्य जाति के दिन होंगे तब उसकी भाषा और भाव कितने अनुकरणीय और आदरणीय रहे होंगे!

इसका मुख्य कारण भाषा और भावों की मौलिकता है।

भाषा और भाव ये जातीयता को तोलने वाली तराज़ू के दो पलड़े हैं। भाषा के विषय में देश में कुछ समय से आन्दोलन उठा है और हिन्दी भाषा धीरे-धीरे राष्ट्र-भाषा कहलाई जा रही है। मद्रास में हिन्दी प्रचार का काम हो रहा है, बंगाल में हो रहा है, दक्षिण और गुजरात में हो रहा है। टूटी-फूटी हिन्दी बोल कर प्रायः समस्त भारत में काम निकल सकता है। यह एक बड़े

भारी संगठन का चिह्न है। कल तक यह दशा थी कि कांग्रेस से लेकर साधारण सभा में अंग्रेजी बोलना एक शान की बात समझी जाती थी। बंगाली और महाराष्ट्री भाई यदि मिल जाते थे तो चाहे दोनों ब्राह्मण ही होते, पर भाषा भिन्न होने से परस्पर बात-चीत अंग्रेजी में किया करते थे। बहुधा शिक्षित लोग अकारण ही अंग्रेजी बोलते थे। अंग्रेजी शिक्षा ने कुछ जहर ही ऐसा घुला दिया था कि अंग्रेजी बोलने में मजा आता था, गौरव मालूम होता था। जो अंग्रेजी नहीं जानते थे, अपने को किसी काम के योग्य न समझते थे। भारत की एक भाषा होना बहुत बड़ा प्रश्न है—बहुत ही बड़ा प्रश्न है। परन्तु उससे भी अधिक प्रश्न भाव का है। हम लोग अपनी भाषा को तो कुछ न कुछ बना रहे हैं, पर भावों की तरफ हमारा कुछ भी ध्यान नहीं है। हम अपनी भाषा में विदेशी भावों के गीत गा रहे हैं, यह एक घातक भूल है। अब तक अंग्रेजी भाषा में ही अंग्रेजी भाव थे, पर जब से हिन्दी भाषा राष्ट्र-भाषा बनने लगी है तब से अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी भावों का प्रसार धड़ाधड़ हिन्दी भाषा में कर रहे हैं। उनका कोई अपराध नहीं है। उनके मस्तक में जो भाव है, अब तक जो उन्होंने सीखा है, वही वे कह और लिख सकते हैं, यत्न करने से वे भाषा बदल कर हिन्दी कर सकते हैं, पर भावों को कैसे बदलें?

नतीजा यह हुआ कि जो जहर अंग्रेजी भाषा ने अंग्रेजी पढ़े लोगों के मस्तक में घुसेड़ कर उन्हें भारतीय भावों से दूर कर दिया, अब वही जहर साधारण हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों के लिये भी सरल-प्रायः हो गया। क्या यह गम्भीर हानि का प्रश्न नहीं है?

हम यूरोपियन दर्शन शास्त्रों के अनुवाद देखते हैं। यूरोपियन अर्थशास्त्र, समाज पद्धति हमारे सामने दीखती है। फलतः हम धोती पहन और तिलक लगाकर, कुर्सी पर बैठकर सन्ध्या-वन्दन और खान-पान करते हैं। यही धीरे-धीरे हमारी भाषा बन रही है, पर हमारे भाव नष्ट होकर हमारे हत्याकारियों के भाव हमारा वेश धारण कर हममें रम रहे हैं। मानो हमने शत्रु-कन्या से विवाह कर लिया है।

शिक्षा के साथ ही आजीविका का प्रश्न भी हमारे इस विपत्ति और नाश का कारण हुआ है। यही आजीविका का प्रश्न मुगलों के काल में भी था। मुगल काल में फारसी और अंग्रेज काल में अंग्रेजी सीखने से हमने क्यों घृणापूर्वक इन्कार नहीं कर दिया? कारण यह था कि हम गरीब और असहाय स्थिति में पड़ गये थे, सामाजिक जीवन का आसरा न रहा था, हमने जरूरत के लिये गधे को बाप बनाया और अब वही हमारा सच्चा बाप प्रसिद्ध हो गया है और हम गधे के बच्चे बन कर लज्जित हो रहे हैं।

"न वदेत् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठ गतैरपि।"

इस वाक्य से पता लगता है कि जातीयता की कुछ-कुछ झलक मुगल काल में भी थी। परन्तु आज जब अंग्रेज चले गये हैं, एक भी ऐसा पुरुष नहीं मिलता जो अंग्रेजी पढ़ना उत्तम न समझता हो। मैंने ऐसे सज्जन देखे हैं जो यदि गीता भी पढ़ना चाहते हैं तो अंग्रेजी अनुवाद मँगाकर पढ़ते हैं। मेरी राय में इससे अधिक अधोगति कोई हो ही नहीं सकती। कौवा, कुत्ता, गधा, सूअर सबकी अपनी भाषा व अपनी भावभंगी होती है।

भारतीयता मानो कोई वस्तु ही नहीं है। फिर वह राष्ट्र बनने का दावा कैसे करती है?

हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों की भाषा और भावों में मैं एक जीवन पाता हूँ। उन्होंने फिर भी अंग्रेजी को काम की भाषा और यूरोपियन भाव का बाजार समझ और बना रखा था। बहुत कम मुसलमान सज्जन उच्च अंग्रेजी शिक्षा और पद पाने पर 'अपनी स्त्री-बच्चों को लेडी बनाते देखे गये। प्रायः मुसलमानों के स्त्री-बच्चे मुसलमान ही रहे। पर हिन्दुओं की दशा देखिये कि जरा भी अंग्रेजी शिक्षा पाने पर स्वाधीनता मिली कि उनके स्त्री बच्चों तक से हिन्दुत्व कोसों दूर भाग जाता रहा।

जहाँ बड़े-बड़े जज और सम्भ्रान्त मुसलमान परिवारों में मैंने छोटे-छोटे बच्चों को कालीन पर दोजानू बैठकर प्रातःकाल कुरानशरीफ का सस्वर पाठ करते सुना, वहाँ साधारण अंग्रेजी पढ़े हिन्दू घरों में बच्चों को कोट, पतलून और बूट पहन कर अंग्रेजी प्राइमर पढ़ते देखा, मानो उनके माँ-बाप को बड़ी उतावली थी कि किसी तरह जल्दी से जल्दी यह सुन्दर भाषा इनके कण्ठ में उतार दी जाय।

इसका कारण क्या था? इसका कारण यह था कि हम अपने जातीय जीवन से बहुत दूर जा पड़े थे और पीढ़ियों से हमारे भाव और भाषा में से मौलिकता जाती रही थी। मुद्दत से हम भाव और भाषा को सिर्फ आजीविका के लिये सीखते चले आये थे।

आज हिन्दी भाषा की जो गति हो रही है और जिस तेजी से वह यूरोपियन आदर्शों से भर रही है, यदि यही दशा रही तो

उसका परिणाम यह होगा कि इसका विकास ही रुक जायगा। उदाहरण के लिए हिन्दी अखबारों की बात लीजिए। कोई आदमी जो अंग्रेजी पढ़ सकता है, हिन्दी अखबार नहीं पढ़ता क्योंकि वह जानता है कि थोड़ी-सी अंग्रेजी पढ़े व्यक्ति इसके सम्पादक हैं, उन्होंने अंग्रेजी अखबारों से समाचार उठाकर उसमें छाप दिये हैं। दैनिक हिन्दी अखबारों की तो वास्तव में यही दशा है। अंग्रेजी साहित्य का जो विराट् रूप भारत में फैला हुआ है उसे देखकर बड़ा भय होता है। साफ बात यह है कि अंग्रेजी भाषा और भाव जितनी बड़ी जबर्दस्त शक्ति भारत में उत्पन्न कर चुके हैं वह अंग्रेजों के चले जाने पर भी हमारी वर्तमान तैयारियों से नष्ट होने वाली नहीं है। उसके लिए एक बार हमें जूझ मरने तक को तैयार होना चाहिये।

हमारे और हमारे मित्रों के घरों में प्रायः फर्श दरी आदि का होता है, कुर्सी मेज भी यदि कमरे में हुई तो भी जूते पहन कर कमरे में जाना वाहियात समझा जाता है। वास्तव में अंग्रेज लोग तो कालीनों पर मय जूते के फिरते हैं, उनके जूते गाड़ी-मोटरों में चढ़कर आते हैं और दिन में दो बार पालिश से चम-चमाते हैं, स्वच्छ रहते हैं। परन्तु हमारे बूट नाम के बूट हैं, सदा पेशाब की गलियों की धूल फाँक कर आते हैं, तले में कीचड़, गोबर लगा रहता है, पालिश तो महीनों में शायद ही कोई जेंटिलमैन एकाध बार कराता हो। बहुत से तो फीते भी नहीं बाँधते। फिर वे जूते फर्श पर कैसे जा सकते हैं? निदान उन्हें उतारने की भी दिक्कत निरन्तर रहती है। बार-बार तस्मे बाँधना, खोलना और छूना एक बेहूदा काम है। पर फिर भी बूट का प्यार नहीं छूटता है। कीमत में तो ये देशी जूतों से

अठगुने होते हैं। यही हाल पतलून, कालर, और टाई का है। बैठने की तो क़सम है। घोर गर्मी में कालर, टाई बाँधना फाँसी से कम कष्टदायक नहीं है। सिर पर बेढब वालों का गुच्छा रखना भी मालीखोलिया की बीमारी पैदा करने वाला है।

यह सब घोर अप्राकृत और दुखदाई वेश क्यों इतना पसन्द किया गया, और क्यों यहाँ तक रुचिकर हुआ कि सत्याग्रह आन्दोलन के जमाने में खद्दर की प्रतिज्ञा लेने वालों ने खद्दर के कोट, पतलून, टाई और कालर बनवाये थे ?

इसका कारण गुलामी थी ? अपने दिल में पराये भाव और पराई भाषा की जो बू घुस गई थी उसी का यह फल था।

हमारी प्राचीन सभ्यता को अध्ययन करने के लिये जैसे पाश्चात्य विद्वान हमारे दर्शन और उपनिषदों का पाठ करते हैं, वैसे ही हम अपनी आज की भाषा हिन्दी को जब तक उतनी मौलिकता न प्रदान करेंगे, हम राष्ट्रीयता की इज्जत को प्राप्त नहीं हो सकते और हम युद्ध की सच्ची सफलता को नहीं पा सकते।

यदि हम अपने भावों को सुरक्षित नहीं रख सकते तो इसमें सन्देह नहीं कि अपनी जातीयता को भी सलामत नहीं रख सकते। मैं आपका ध्यान इसलाम की ओर आकर्षित किया चाहता हूँ। बहुत से मुसलमान योरोप में बसते हैं और राज्य भी करते हैं। मुसलमानों की योरोप के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित करने में भी कुछ उज्र नहीं। यह उनकी जातीयता की खूबी है कि वे यदि किसी योरोपियन स्त्री से शादी करते हैं तो उसे मुसलमान बना लेते हैं। और वह मजे में मुसलमानी सभ्यता के अनुकूल पर्दे में रहती है। तुर्की साम्राज्य का

बहुत पुराना दस्तूर था कि वहाँ किसी ईसाई को पद नहीं मिलता था। तुर्की साम्राज्य में पद पाने के लिये अच्छा मुसलमान होना आवश्यक था। सैकड़ों वर्षों से हजारों जर्मन और अंग्रेज अपने देशों में विद्रोह करके या और कोई अपराध करके तुर्की मे मुसलमान हो गये और बड़े-बड़े पद पा गये।

क्या यह मुसलमानी भावों की दृढ़ता का चमत्कार नही है? परन्तु हिन्दुओं की दशा कैसी है, यह बात भी तो सोचिये। मुसलमान और ईसाई के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध जोड़ना तो स्वप्न मे भी सम्भव नहीं हो सकता, उनका स्पर्श तक करने में हिन्दू धर्म चला जाता है। यह भी असम्भव है कि हमारी योरोप की यात्राएँ अब रुक जायें। ज्यों-ज्यों राष्ट्रीयता की पुष्टि होगी, शिल्प, कला और विज्ञान की वृद्धि होगी—त्यों-त्यों संसार की सभी जातियों में घनिष्टता अवश्य बढ़ेगी। हमें फ्रांस, इंग्लैण्ड, रूस और अमेरिका में जाना और पड़ेगा। परन्तु ऐसा करके क्या हम हिन्दुत्व को, जो हमारी राष्ट्रीयता की रीढ़ की हड्डी है, क़ायम रख सक्ते हैं? यह सबसे गम्भीर सवाल है।

पढ़ने या मजदूरी को जो भारतीय योरोप और अमेरिका में जाते हैं वे जहाज़ पर ही यूरोप की भाषा और वेश को अपना लेते है! लौटने पर सदा के लिये उनके जीवन में योरोप की भावना बस जाती है।

अब यह विचारने की बात है कि यदि यह यातायात बढ़ा और हमारी भावना दृढ़ न हुई तो हमारे लिये भयानक जीवन आ जायगा। इधर हम मूर्ख, दरिद्र और निकम्मे होकर भी अपने कंगाल घरों में योरोप के फैशन के गुलाम धीरे-धीरे बन रहे हैं। मेज, कुर्सी, कालर, टाई, बूट और पतलून जब प्रत्येक घर में

दीख रही है तब हम योरोप से लौट कर यदि योरोपियन सभ्यता का चित्र साथ लायें तो आश्चर्य की क्या बात है? इससे हमारी जातीयता अवश्य मिट्टी में मिल जायेगी।

सोचने की बात यह है कि मुसलमान योरोप में रहकर, योरोपियन स्त्री से ब्याह करके कैसे सच्चे मुसलमान बने रहते हैं? वे उधर योरोप को पचा जाते हैं, इधर हिन्दुओं को हजम कर जाते हैं।

हिन्दुओं में सिर्फ यही कमी नहीं है कि वे अन्य जातियों से एकान्त और अछूत बने हुए हैं, वरन् एक बड़ा भारी दोष हिन्दू समाज के मंदिर में यह भी है कि उसमें से निकलने का मार्ग है, घुसने का नहीं है। छल से या बल से अगर कोई हिन्दू मुसलमान या ईसाई बना लिया जाय तो वापस लेने की चेष्टा करना तो दूर रहा, उसे हिन्दू सर्वथा त्याज्य कह कर धकेल देते हैं। यहाँ तक उनमें साहस का अभाव है कि यदि वे स्वयं हिन्दू समाज में आने की चेष्टा करते हैं तो हम उन्हें मिला और पचा नहीं सकते।

ऋषि दयानन्द ने बड़ी वीरता और साहस से इस काम को स्वयं किया और उनके बाद आर्य समाज ने भी प्रारम्भ में दो-चार शुद्धियाँ कीं। परन्तु उस समय तक आर्य समाज की बुनियाद थोदी थी, क्योंकि यह एक डिबेटिंग क्लब था, और साम्प्रदायिकता की बुनियाद पर था। उसका प्रत्येक सदस्य अपनी-अपनी बिरादरी में घुसा हुआ था। फल यह हुआ कि जो मुसलमान शुद्ध होकर आर्य समाज में आये, वर्षों तक बाहर खड़े रहे, मगर हिन्दू घरों में उन्हें जगह नहीं मिली। वे फिर वहीं मुसलमान धर्म में लौट गये। आज आर्य समाज का रंग कुछ बदला है। उसमें

राष्ट्रीयता उत्पन्न हो रही है और फलस्वरूप जो सामूहिक शुद्धियाँ हुई हैं, उनके प्रभाव पुरानी शुद्धियों की अपेक्षा अधिक व्यापक हुए हैं। स्वामी श्रद्धानन्द के उद्योग से एक समय ऐसा आ गया था कि लाखों मुसलमान हिन्दू समाज में घुसने को तैयार हो गये —वे देर तक हिन्दुओं के द्वार पर खड़े रहे—पर हिन्दुओं ने उनके लिये अपना दरवाज़ा नहीं खोला।

पंजाब केसरी महाराज रणजीतसिंह की कुछ रानियाँ मुसलमान थीं, सम्राट चन्द्रगुप्त ने यूनान की एक रमणी से विवाह किया था। आज भी ऐसे उदाहरण दीख पड़ते हैं। परन्तु बहुधा उनके परिणाम शुभ नहीं होते।

आज जिन भारतीयों ने अपने विवाह योरोपियन स्त्रियों से किये हैं उनके रहन-सहन योरोपियन हो गये हैं। इसका कारण यही है कि हमारे अन्दर अपने निजी भावों की कमी है।

भाषा के साथ ही भाव हैं। भाव ही हमारी राष्ट्रीयता की सम्पत्ति है और वेश हमारा राष्ट्रीय चिह्न है। भारत जैसे धर्म-प्रधान देश में रहकर भी योरोपियन अपना असुविधाजनक वेश नहीं त्यागते। इसका नतीजा यह है कि हम उस वेश को धारण करने लगे हैं। अपनी भाषा, अपना भाव और अपना वेश, यही तीनों हमारी जातीयता की रक्षा कर सकते हैं।

९

साम्यवाद नहीं, सम सहयोग की भावना

गत ४० वर्षों से योरोप में जो साम्यवाद की आंधी उठी है उसने भारतीय समाज-शृंखला पर भी काफ़ी प्रभाव डाला है। मैं साम्यवाद को असम्भव योजना समझता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे देश में यह ज़हर लोगों के मस्तिष्क में न पैदा होने पाये। पहिली बात तो यह है कि शिक्षा, संस्कार, परिस्थिति और अभ्यास के कारण कभी भी मनुष्य-समाज में वह दिन आएगा जब कि सब मनुष्य एक ही ढंग पर, एक ही स्थिति में रहेंगे, एक से मकानों में रहेंगे, एक सा भोजन करेंगे। वैज्ञानिक नियम भी यह चाहते हैं कि जो शारीरिक परिश्रम करेंगे उनका रहन-सहन, खान-पान, आमद-खर्च कदापि उन व्यक्तियों के बराबर नहीं हो सकता जो मस्तिष्क से काम लेंगे। फिर शरीर एवं मस्तिष्क दोनों से काम लेने वालों की श्रेणियाँ भी पृथक् ही रहेंगी। यह असम्भव है कि मनुष्यों के मस्तिष्क के विकास को रोक दिया जाय, मनुष्य का मनुष्यत्व ही उसके मस्तिष्क का चरम-विकास है, मस्तिष्क के विकास के आधार पर ही वह नवीन आविष्कार करेगा, विज्ञान, साहित्य, कला और नीति में

उत्कर्ष प्राप्त करेगा। पृथ्वी के आरम्भ से अब तक उन्हीं लोगों ने जगत को सुन्दर बनाया है, जिन्होंने अपने प्रखर मस्तिष्क के द्वारा प्रकृति का अध्ययन किया और उसका भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ उठाया है। मैं समझता हूँ संसार को अन्त तक ऐसे मेधावी मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती रहेगी। इसके विरुद्ध शारीरिक शक्ति सम्पन्न पुरुष भी समाज का सदैव ही चाहिये। जिस प्रकार का और जितना भाजन एक किसान का या सिपाही को या कारीगर का दरकार है—उतना एक कवि, चिकित्सक या वैज्ञानिक को नहीं। मैं इस बात को मानने से इन्कार करता हूँ कि देश को किसानों की अपेक्षा कवियों की ज्यादा जरूरत है या वैज्ञानिकों की अपेक्षा योद्धाओं की ज्यादा जरूरत है। अवैज्ञानिक योद्धा पत्थर या लोहे के भद्दे हथियारों से लड़ते थे, वैज्ञानिक सहायता प्राप्त योद्धा आज चमत्कारिक शस्त्रों का प्रयोग करता है। विज्ञान की सहायताहीन भारतीय कृषक पुराने हल-बैलों से करोड़ों बीघे धरती के स्वामी होने पर भी निर्धन हैं, वैज्ञानिकों की सहायता प्राप्त योरोप के कृषक उनसे दशांश काम करके सौगुना धन प्राप्त करते हैं।

चाहे भी जो हो, मस्तिष्क मानवीय चिह्न है और मनुष्य जाति इसी के आधार पर सुखी और सम्पन्न हो सकती है। और यह अनिवार्य है कि प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क का विकास नहीं हो सकता। प्रतिभा और आज सब मनुष्यों में समान न रहेगा—फलतः सब मनुष्य समान नहीं रह सकते। यदि क़ानून या समाज की मर्यादा उन्हें समान बनाने की कोशिश करेगी तो निस्सन्देह वह दुःख के घनघोर बादल सिर पर लेगी।

इस प्रकार के विचारों को समाज में उत्पन्न करने की

ज़िम्मेदारी रूस के बोलशेविक लोगों को है। इससे प्रथम भी इस प्रकार के भाव योरोप के देशों में गत ५० वर्षों से पनपते रहे हैं। परन्तु इस समय तो रूस ही सारे संसार में समानता पैदा करने पर तुला हुआ है। अभी उसके उद्योगों का प्रारम्भ है। वह शताब्दियों से सत्ता के अत्याचार से दबता आया है और उसका क्रोध अभी तक ठण्डा नहीं हुआ है। शताब्दियों के दलन ने वहाँ महापुरुष पैदा किये हैं और उन्होंने लहू को पसीना बहाकर ऐसे उद्योग प्रारम्भ किये हैं, जिन्हें देख पृथ्वी भर की महाजातियाँ चकित हो रही हैं। परन्तु रूस की यह व्यवस्था मुझे अत्यन्त अस्वाभाविक और भयानक-सी प्रतीत होती है, यद्यपि वह इस समय सुन्दर और आदर्श प्रतीत होती है।

समाज एक वाद्य-यन्त्र के समान सुगठित वस्तु है। जिस प्रकार बाजे के ऊँचे और नीचे स्वर एक विशेष क्रम से और पद्धति से लगे होते हैं उसी प्रकार मनुष्य समाज में भी सब श्रेणी और स्वभाव के मनुष्यों को क्रम और पद्धति में संयुक्त होना चाहिये। यही तो समान संगठन है। यदि बाजे में सब स्वर एक ही जैसे हों या उन में क्रम न हों तो यह असम्भव है कि उसमें राग-रागनियाँ बजाई जा सकें।

साम्यवाद का प्रभाव न केवल भिन्न-भिन्न स्वभाव, शिक्षा और परिस्थिति के पुरुषों ही पर है—प्रत्युत् स्त्री और पुरुषों पर भी है। स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति सब सामाजिक-कार्यों में समान अधिकार रक्खें—मैं यह बात मानने से इन्कार करता हूँ। स्त्रियों की बनावट और उनका उपयोग प्राकृत तरीके से ऐसा है कि वे पुरुष से बिलकुल ही भिन्न किसी दूसरे ही उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनाई गई हैं। यदि इस प्रकृति के नियम का पालन

न करके स्त्रियों को पुरुषोचित्त जीवन धारण करने के लिये प्रोत्साहित किया गया, तो स्त्रीत्व की ऐसी हानि होगी कि जिसके लिये मनुष्य-जाति चिरकाल तक अफसोस करेगी। स्त्रियों के सम्बन्ध मे मैंने पृथक् अध्याय में बहुत कुछ विस्तार से लिखा है। मैं चाहता हूं कि पाठक उस अध्याय को ध्यान से पढ़ें। मैं स्त्रियों को पुरुषो की दासी बनाने, पद में रखने, मूर्ख रखने और घरेलू-धन्धों की मशीन बनाने के पक्ष मे नहीं, मैं केवल उनका स्त्रीत्व कायम रखने के पक्ष में हूं। यदि स्त्रियाँ पढ़-लिखकर पुरुषों की भांति दफ्तरो मे क्लर्क का काम करें, पुलिस और सेना में नौकरी करें, अफसरो के अत्याचार और अपमान का एकाकी मुकाबला करें, दीवानी और फौजदारी की जोखिम को सहन करें, तो निस्सन्देह वे किसी गैरतमन्द पुत्र की मातायें या पति की पत्नियां नही रह सकती। और यदि वे यह नौकरियां करेंगी—आजीविका के मार्ग पर स्वतन्त्र होकर चलेंगी, तो यह अनिवार्य है कि उन पर पति, पुत्र और परिवार की अपेक्षा उनके अफसरों और अधिकारियों का अधिक प्रभुत्व होगा और ऐसा प्रतिबन्ध मनुष्यों के गृहस्थ-जीवन मे आग लगा देगा।

क्या आप इस बात को सहन कर सकते हैं कि आपकी धर्म-पत्नी को कोई पुरुष डांट-डपट करे? क्या यह सुखकर विषय हो सकता है कि आपकी पत्नी किसी फौजदारी या दीवानी मामले में अभियुक्त हो जाय? जैसा कि इस नवीन जीवन की परिपाटी में बहुत सम्भव है।

इस सम्बन्ध में एक बड़ी भारी विचारणीय बात तो यह है कि योरोप और भारत के सामाजिक जीवन में बड़ा भारी अन्तर रहा है, और साम्यवाद के मूल कारण योरोप की जनता के

हृदय में उत्पन्न हुए—उनसे भारत का बहुत ही दूर का सम्बन्ध है।

सबसे पहिले अमीरों और गरीबों की बात लीजिये। योरोप में प्रत्येक रईस की पदवी और सम्पत्ति स्थायी है, वह बड़े पुत्र को मिलती है। और इस प्रकार उसी एक खानदान में वह पीढ़ियों तक चली जाती है। परन्तु भारतवर्ष में यह बात नहीं है। यहाँ यदि एक पिता एक करोड़ रुपये छोड़कर मरा और उसके ४ पुत्र हुए, तो यह धन बराबर-बराबर सबमें बँटकर २५-२५ लाख रह जाता है। उनमें से प्रत्येक के ४-४ पुत्र हुए, तो दूसरी ही पीढ़ी में वह ६ लाख रहकर तीसरी पीढ़ी में साधारण सम्पत्ति रह जाती है। यह भी तब, जबकि उत्तराधिकारी सुयोग्य हुए। अयोग्य होने पर वे तत्काल ही उसे नष्ट कर सकते हैं। पदवी भारत में किसी भी रईस को प्रायः वंशगत नहीं मिलती। इन सब कारणों से कोई भी परिवार चिरकाल तक धनी बहुत कम रहने पाता है। इसके सिवा एक बड़ी जबर्दस्त बात और है कि भारत में बिरादरी के बन्धन बड़े अद्भुत और मजबूत हैं। बिरादरी की जाजिम पर राजा, रईस और रङ्क एक समान हैं। कोई व्यक्ति चाहे जैसा भी धनी-मानी हो, उसे बिरादरी के दरिद्र से दरिद्र व्यक्ति के सामने अत्यन्त विनम्र और समानता का भाव प्रदर्शित करना पड़ता है। बिरादरी ही में उसे रोटी-बेटी का भी व्यवहार करना पड़ता है। इन सबके ऊपर एक तीसरी बात यह है कि भारत में सदैव ही ऐसा रहा है कि ग़रीबों और अमीरों के रहन-सहन में अधिक भेद नहीं रहने पाया। लखपति लोग लाखों के स्वामी होने पर साधारण कुर्ते, धोती और देशी जूतों से जीवन गुजार देते थे। स्त्रियाँ सब काम अपने

हाथों से करती थीं। उनका रहन-सहन भी बिलकुल सादा सर्व-साधारण के समान ही रहता था। भाषा, शिक्षा भेष और रहन-सहन सब प्रायः समान ही रहता था।

राजा और प्रजा में भी ऐसी बात थी। राजा लोग अपने सरदारों का एक अंग थे। वे परस्पर सहानुभूति और विश्वास से गुँथे रहते थे। उनका जीवन परस्पर में सहयुक्त रहता था। साथ मरते और साथ ही जीते थे। विपत्ति में राजा सर्वप्रथम अपनी आहुति देता था। राज परिवार बड़ी से बड़ी जोखिम प्रजावर्ग के लिये सहता था! वह केवल राजा न था, न वह प्रजा था, प्रत्युत् वह एक जाति थी और राजा उसका रक्षक नेता और बलिदान का प्रकृत अधिकारी था।

इन सब कारणों से भारतवर्ष की अन्तरात्मा में अमीरों और ग़रीबों के बीच कभी भी वह कटुभाव नहीं पैदा हुआ जो आज योरोप में हो रहा है। आज यद्यपि राजा लोग अत्यन्त पतित हो गये हैं और अमीरों के जीवन विलासपूर्ण और शानदार हो गये हैं तथा उनमें से सहयोग और सहानुभूति के भाव दूर हो गये हैं, फिर भी भारत के सर्वसाधारण के मन में उनके प्रति विद्रोह नहीं। यह विद्रोह सिर्फ उन गिने हुए शिक्षित युवकों के हृदयों में है जो विदेश में रह आये हैं या जिन्होंने विदेशों का ऐसा क्रान्तिकारी साहित्य पढ़ा है।

यद्यपि यह सच है कि राजाओं और रईसों में अब वह बात उत्पन्न करना बहुत कठिन बल्कि असम्भव हो गई है जो पहिले थी। उनके रहन-सहन भड़कीले हो गये हैं। उनकी आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं। बड़े-बड़े व्यापारी मोटरें रखते हैं, मोटर बिना उनका आवागमन चल नहीं सकता, उन्होंने विदेशों में भारी-भारी

शतखण्डे महल बनाये हैं जो अनगिनत ऐश्वर्य भण्डार हैं। स
ने उनके कार्य को सरल और आरामदेह बना दिया। अब उ
अपने माल को पने के लिए चोर-डाकुओं से परिपूर्ण मार्ग
हजारों मील की यात्रा नहीं करनी पड़ती, न लम्बे-लम्बे जहा
सफरों की जोखिम ही उठानी पड़ती है, अब तो वे चुप-चाप
पर पड़े-पड़े टेलीफ़ोन मुँह पर लगाये सारी पृथ्वी भर में व्याप
कर सकते हैं और संसार का क्षण-क्षण का समाचार उन्हें मि
सकता है। साथ ही अटूट सम्पत्ति के वे अधिकारी बन सकते हैं
फिर उनका जीवन सुखी और विलासमय बनना स्वाभाविक ह
है। यही हाल राजा लोगों का भी है, उनके व्यक्तिगत अधिका
और उत्तरदायित्व जो उन्हें जन-साधारण से श्रेष्ठ बनाते आये है
राजनीति ने छीन लिये हैं और अब सिवा इसके कि अपनी पैतृ
सम्पत्ति और खिताब के अधिकारी और भोक्ता हैं उन्हें कुछ भी
करना नहीं है, न उनके सामने कोई काम है न आदर्श। फल
स्वरूप अनेकों दोषों से परिपूर्ण और सद्गुणों से रहित होते चले
जा रहे हैं।

यही सब कारण हैं जिनसे अमीरों और गरीबों, राजाओं और प्रजा में असहनशीलता उत्पन्न होती चली जा रही है। यह तो निश्चय है कि हम न तो सब राजाओं और सत्ताधारियों को एकदम नष्ट कर सकते है और न धनियों को ही। और यदि एक बार समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करके ऐसा कर भी दें तो कुछ दिन बाद वे फिर विषम हो जायेंगे। यह विषमता स्वाभाविक है। इसलिये हमें इस बात पर अच्छी तरह सोच लेना चाहिये कि साम्यवाद का सिद्धान्त मानव-जाति के लिये सर्वथा अस्वाभाविक और असम्भव है।

सब ? यदि साम्यवाद न उत्पन्न हो तो ग़रीब लोग इसी भाँति हृदय-हीन अमीरों के पैरों में पड़े कुचले जाते रहेंगे ? प्रजा, राजाओं द्वारा इसी भाँति पीड़ित होती रहेगी ? राजागण इसी भाँति से व्यापारी और चरित्रहीन तथा अयोग्य बने रहेंगे ? चतुर लोग इसी भाँति मूर्खों के अज्ञान से लाभ उठाते रहेंगे ? नहीं, यह कभी न होगा। इन सबको रोकने और सुव्यवस्थित बनाने का एक ही स्वभाविक और सम्भव उपाय है। वह है समसहयोग।

अपनी-अपनी प्रकृति, परिस्थिति, शिक्षा और व्यक्तिगत विकास के आधार पर जिस व्यक्ति में जैसी योग्यता हो, वह उसका ठीक-ठीक उपयोग करे, शक्ति संचय करे, व्यक्तित्व को निर्माण करे। फिर वह सब परिस्थिति और सब श्रेणी के लोगों से मिलकर समाज के बन्धन में अपने को बाँधे, प्रत्येक का एक दूसरे के प्रति जो कर्त्तव्य हो उसका पालन करे। यदि वह राजा है तो वह राज महल में रहे, उसे अधिक काम करना पड़ता है—वह सभी साधन जुटाये, परन्तु सामाजिक बन्धन के नाते वह प्रजा का सहयोग करे, प्रजा के लिये उसका राजत्व और जीवन उत्सर्ग हो। हाल ही में किसी विद्वान ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि—"अमेरिका के प्रेसीडेण्टगण ज्यों ही अपना कार्य काल पूरा करते हैं कि मर जाते हैं।" इसका कारण यह है कि उन्हें बहुत अधिक कार्य करना पड़ता है, राजा का दायित्व भी साधारण नहीं, और यदि वह प्रजा के प्रति अपना कर्त्तव्य समझे तो उसके संकटों का पारावार नहीं। इसी प्रकार अन्य धनी विद्वान् और वैज्ञानिकों के विषय में भी कहा जा सकता है। यदि एक ऐसे पुरुष को जिसे हजारों मील में फैली हुई जनता पर

शासन करना है या निरन्तर जल्द से जल्द एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना है, ऐसी दशा में यदि यह हवाई जहाज या मोटरकार में जाता है तो फावड़े चलाने वाले के मन में इस बात का डाह न पैदा होना चाहिये कि हम भी जमीन खोदने के लिये मोटर ही में जायेंगे। समाज हमारा एक विराट् शरीर है, शरीर के प्रत्येक अंग जुदा-जुदा अपनी हस्ती रखते हैं। उनके काम, आकृति और स्थिति भी जुदा-जुदा है। सुगठित शरीर तो वह है जिसके प्रत्येक अंग पूर्ण विकास को प्राप्त और निरोग हैं और अपनी व्यक्तिगत सत्ता को इतना परिपूर्ण बनाये हैं कि वह ठीक-ठीक शरीर को नीरोग बनाये रखने में अपना पूर्ण उपयोग कर सकता है।

हमें अपने समाज के सामूहिक सम्बन्ध उसी नियम पर बनाने चाहिए जिन पर कि हमारा छोटा-सा गृहस्थ चल रहा है। हमारे गृहस्थ में हमारे पिता हैं, दादा हैं, भाई हैं, उनकी पत्नियाँ हैं, अपनी भी पत्नी है, सब के बच्चे हैं, नौकर हैं, पशु हैं, उपजीवी हैं, मेहमान हैं, इन सबकी परिस्थित भिन्न-भिन्न है। सबके कार्य, अधिकार और मर्यादा भी भिन्न-भिन्न हैं, पर सब सहयुक्त हैं। पिता, जो घर का सर्वश्रेष्ठ पुरुष है, बच्चे को छाती पर रख कर खिलाता है, उसके मलमूत्र उठाता है, गृहिणी परिवार की सेवा में व्यस्त है, इस समस्त संगठन में अधिकार की चर्चा नहीं है—प्रेम और कर्तव्य की है। प्रेम और कर्तव्य के आधार पर ही हमें अपने समाज के अमीर, ग़रीब और विद्वानों का संगठन करके प्रत्येक से काम लेना है। जिस घर में अधिकार या हक़ की चर्चा चली, वह नष्ट हो गया, वहाँ कलह का बीज बो दिया गया। आज आप ऐसा क़ानून बनादें कि आज

से कोई शिक्षित न हो, शिक्षा के समस्त केन्द्रों को भी नष्ट कर दें—आधी शताब्दी में ही सारा देश मूर्ख हो जायगा। परन्तु आप चाहे भी जितना उद्योग शिक्षा प्रचार का क्यों न करें, कुछ लोग मूर्ख रह ही जायेंगे। शेष जो शिक्षित होंगे, उनकी भी अनेक श्रेणियाँ होंगी। फिर उनकी रुचि है। वे भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिभा के कारण कोई कवि, कोई वैज्ञानिक, कोई शिक्षक और कोई कुछ बनेगा, और उसका रहन-सहन भी उनके व्यवसाय और रुचि के अनुकूल ही होगा। ऐसी दशा में साम्यवाद पर जोर डालना मेधावी लोगों का नष्ट करना है। आप मानव समाज को यदि साम्यवाद पर चलने को विवश करेंगे तो वे अपने विकास से पतित होकर प्राणियों की अधम श्रेणी के अन्दर जा पहुँचेंगे, क्योंकि सब लोग असाधारण विकास नहीं प्राप्त कर सकते, सब लोग जड़ अलबत्ता हो सकते हैं। आप स्त्रियों को पुरुषों की भाँति युद्ध करना सिखाकर सेना में या पुलिस में भर्ती कीजिये, या उन्हें क्लर्की की तालीम देकर क्लर्क बनाइये। फिर वे आपकी हृदय की कोमल भावना की पोषक न रहेंगी। क्या साम्यवाद में स्त्रियाँ यह भी कह सकती हैं कि पुरुष भी उन्हीं की भाँति बच्चे जनें? उन्हें पालें-पोसें? यह तो स्त्रियों के शरीर की रचना से सम्बन्ध रखने वाली बात है, फिर जब स्त्रियाँ पुरुषोचित जीवन व्यतीत करेंगी, तो जो कार्य खास तौर पर स्त्रियों के ही करने के हैं, उन्हें कौन करेगा?

सम सहयोग ही मनुष्य जाति के लिये उत्तम संगठन है, माता बच्चे के लिये सब कुछ त्यागती है, पिता पुत्र के लिये सब कुछ त्यागता है, प्रेम और कर्तव्य की खरी कसौटी तो यही है

कि प्रत्येक प्रत्येक के लिये अधिक से अधिक त्याग करे, अधिक से अधिक विश्वास करे, और अधिक से अधिक अपना समझे और अपने में और उसमें तनिक भी भेद-भाव न रखे। मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि यही मानव जाति के लिये कल्याण का विषय हो सकता है।

१०

आत्म विश्वास

जो अंग्रेज जाति तुच्छ वंश और क्षुद्र प्रदेश में जन्म लेकर आज अपनी मुठमर्दी के वल से समस्त पृथ्वी के पञ्चमांश ा वेधड़क भोगती रही ; जिसने पिछले चार सौ वर्षों से समस्त रोप और एशिया की नाक में दम कर रक्खा ; जिसने योरोप भारी से भारी वीर से लोहा वजा कर उस पर विजय पाई ; सकी आकांक्षाओं के मारे शताब्दियों तक पृथ्वी पर किसी ो सुख की नींद नसीब नहीं हुई ; जिसने जर्मनी की चालीस र्ष की सामरिक तैयारियों और कैसर की जगत को थर्रा देने ाली सत्ता को परास्त करके अपनी मूंछों को आसमान तक ंचा कर लिया ; जिसके सिर्फ १२०० आदमियों ने ३० करोड़ र-नारियों से भरे हुए विशाल भारत को उंगली पर मदारी के न्दर की तरह सफलतापूर्वक नचाया ; जो सारी पृथ्वी के राज-ुकुटों को ध्वंस होते देखकर अभी तक जरा भी विचलित नहीं ुई और अचल भाव से अपना अकेला साम्राज्य लिये खड़ी रही, ुछ दिन पूर्व एकाएक एक आदमी ने उसी अंग्रेजों की जाति

को पृथ्वी भर में गूँज उठने वाली आवाज़ में "शैतान" कह कर पुकारा था।

भारत के वातावरण में यह आवाज कँपकँपी पैदा करने वाली थी। तब तक अंग्रेजों के समस्त अत्याचारों के सहने पर भारत के करोड़ों नर-नारी, क्षमा, कृपा, अनुग्रह और दया की ही प्रार्थना किया करते थे। उस भिक्षावृत्ति के समय में, यदि किसी की विनय में राई-रत्ती भर भी कसर रह जाती तो उसकी खैर न थी। ऐसे कितने ही लोग फांसी की रस्सी से गला घोट कर मार डाले गये थे। कितने ही काले पानी के कोल्हुओं में बैल बनकर जी रहे थे। कितने ही अपने बाल-बच्चों से भरपूर घरों से चार कदम के फासले पर मनहूस दीवारों के भीतर व्यर्थ चक्की पीस रहे थे। कितनों ही की छातियों में गोलियाँ पार हुई थीं; कितने ही के जुर्माने का जूता मारा गया और कितनों ही के गर्म खून में ठण्डे छर्रे कसक रहे थे।

ऐसी स्थिति में लोगों की कँपकँपी अनुचित नहीं थी। जिस आदमी ने यह शब्द कहा था, वह एक बहुत ही दुबला पतला आदमी था। सूखी हड्डियों पर सिर्फ चमड़ी का लेप था। न सिर पर टोपी, न पैर में जूता। उसकी कमर में केवल मोटे खद्दर का एक टुकड़ा था और उसके हाथ में शस्त्र का जगह चार अंगुल की एक पेंसिल थी।

सात्विक क्रोध के आवेश में उसने अंग्रेजों को जो गाली दी थी, उसी पेंसिल के टुकड़े से उसने उस गाली को तत्काल क़लम-बन्द करके अमिट कर दिया।

उसने यह गाली किसी को चिढ़ाने या उत्तेजित करने के लिये नहीं दी थी। इसीलिये उसने उसके फलाफल की भी विशेष

चिन्ता न की और जब सारा भारत भयभीत होकर अंग्रेजों की भृकुटी विलास का ओर तक रहा था तब उस आदमी ने आगे के लिये अपना इरादा भी कह दिया। वह बैठा था। खड़ा हो गया। खड़े होकर उसने कहा—"मैं इस शैतान की सल्तनत का नाश करूंगा।"

हिन्दुस्तान भर में हल्ला मच गया। कुछ मुँह लगे भिखारियों ने कहा 'पागल है।' किसी बुद्धिमान ने कहा, 'मूर्ख है।' सात करोड़ प्रजा ने सन्देह से उसकी ओर देखा। अंग्रेजों ने कहा —वाह! अच्छी हिम्मत है। कम क़ूवत, गुस्सा ज्यादा इसे ही कहते हैं! वह ठठा कर हँस पड़े। उन्होंने उसकी तरफ से मुँह फेर लिया।

खड़े होकर उसने अपने इस इरादे को काम में लाने का बन्दोबस्त किया। डरते-डरते लोग उसके सामने गये। किसी ने हाथ पकड़ कर रोका, किसी ने समझा कर। सैकड़ों-हजारों-लाखों-करोड़ों अविश्वासपूर्ण, हताश दृष्टियों की चमक उस पर पड़ी। लेकिन उसने ऊंची आवाज में पुकारा और कहा—

"अगर किसी की इच्छा हो तो मेरे पीछे आये। वरना मैं अकेला ही इस महान् कार्य को करूंगा।"

इस पुकार में जादू था। हजारों लोगों की खुदाई न जाने कहाँ चली गई। पहले एक-एक, दो-दो और चार-चार करके—फिर दस-दस और सौ-सौ करके—लोग आकर और उसके कन्धे-से-कन्धा मिलाकर खड़े हो गये। उनमें हिन्दू थे, मुसलमान थे और ईसाई थे। जवान भी थे—बूढ़े भी थे, और बालक भी। स्त्रियां भी उसके साथ थीं। देश की माताएँ, बहुएँ, बेटियां सभी थी। उनमें से कुछ राजाओं के ऐश्वर्य को लज्जित करने वाले

धनकुबेर भी थे। कुछ संसार के प्रकाण्ड धारा-शास्त्रियों गुणिया थे। कुछ पृथ्वी के श्रेष्ठ राजनैतिक पण्डित थे। कुछ ध के नाम पर कुर्बान होने वाले ऐसे सच्चे वीर थे कि जिनकी हुंक के साथ सात-करोड़ तलवारें चाहे जब नङ्गी हो सकती थीं। कु अपनी आयु का तृतीयांश व्यतीत किये हुए धवलकेश-धारं महज्जन थे।

सबने एक-स्वर से कहा—"चलो, हम तुम्हारे साथ हैं!"

उसने आकस्मिक स्वर में कहा—"देखना, मारना मत। मरने का अवसर ढूँढना।" अबोध बालक की तरह सबने उसकी यह बात स्वीकार करली। प्रकाण्ड-धारा-शास्त्रियों का कानूनी ज्ञान, जबर्दस्त राजनैतिज्ञों का महान् पाण्डित्य, बिलकुल बाधक न हुआ। इसके बाद उसने क्षण-भर धनवानों की ओर देखा। देखते-ही-देखते करोड़ों रुपयों का मेंह बरस गया।

अंग्रेज अभी तक हँस रहे थे। लेकिन उसका करतब देखकर उनका आसन हिल गया। प्रहार आरम्भ हुआ। सैकड़ों वर्ष की सल्तनत दिनों में हिल उठी। भारत से लण्डन तक के समुद्र क्षुब्ध हो गये। मैन्चेस्टर और लंकाशायर के मुंह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। लण्डन के होश उड़ गये—अंग्रेजों की मति मारी गयी। उन्होंने अपने समस्त क़ानून, गोली, गोले, हवाई जहाज, फौज लेकर उस चार अंगुल की पेंन्सिल पर धावा बोल दिया।

लोगों की आँखें खुलीं। उन्होंने देखा, जिसकी आँखों के [illegible] से हजारों सिर धड़ से जुदा हो सकते हैं, जिसके एक शब्द [illegible] की धाराएं बह सकती है, उसे इस व्यक्ति ने इतना [illegible]या, इतना घबराया कि उसके नाम और उसकी गन्ध से आज उनकी नींद हराम हो गई।

इसके बाद—कराची की कांग्रेस में जो कुछ था, वह सभी अद्भुत था। वैसा ही नंगा वह आदमी खड़ा था। उस जीती-जागती धवलपुरी में देखने वालों ने जो देखा, वह ११वीं शताब्दी के बाद इन सात-सौ वर्षों में किसी को भी देखना नहीं मिला था। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के, भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी, भिन्न-भिन्न जाति और धर्म के लोग एक ही जाति का वस्त्र पहने हुए थे। एक ही भाषा बोल रहे थे और एक ही ढङ्ग से रह रहे थे। सब के इरादे भी एक ही थे। सब का एक मनसूबा और एक ही ध्येय था। उन मनसूबों में ही, उस ध्येय में ही सब का सर्वस्व बलिदान-सा हो रहा था। क्या यह अपूर्व न था? मराठे, जब उत्तर भारत को लूटने गये थे—तब यदि उनके मन में यह भाव होते? मीरजाफर जब क्लाइव का गधा बना था तब हिन्दू-मुसलमानों मे यह भाव होते? दिल्ली का जब पतन हुआ था, तब हिन्दुस्तानियों में यह भाव होते? तो क्या भारत के इतिहास में आज हर साल करोड़ों आदमियों को भूखों मरने के हवाले देखने को मिलते? तो क्या आज भारत के मर्द और भारत की औरतें फिजी में कुली बनकर अपनी पत खोते?

गङ्गा की तरङ्ग के समान श्वेताम्बर धारी स्त्री-पुरुषों के आवागमन के प्रवाह को देख कर वह नंगा आदमी लालटेन के एक खम्भे की आड़ में खड़ा हँस रहा था। सामने हिमालय के समान शुभ्र पण्डाल था।

ऐसी भयङ्कर जाति से युद्ध छेड़कर, ऐसे कठिन मार्ग में, इतना आगे बढ़कर, इतने बड़े-बड़े नर-रत्नों को, लाखों नर-नारियों के साथ ऐसे जोखिम पूर्ण कार्य में प्रवृत होने की भारी जिम्मेदारी

सिर पर रख कर भी वह हँसता था। चिन्ता और क्षोभ की छाया उसे छू तक नहीं गयी।

श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मण की तरह वह अदालत में दण्ड पाने को जा बैठा। दण्ड की विभीषिका से सर्वथा अज्ञान बालक की तरह उसने कौतूहल से कहा—"हाँ, मैं अपराधी हूँ। बोलो, क्या दण्ड दोगे?" सरकारी वकील ने पूरी वाग्मिता से उसे अपराधी सिद्ध करके जज से कहा—"इसे अधिक-से-अधिक सजा मिलनी चाहिये।" उसे जब कारावास दिया गया, तब उसने सरकारी वकील से मुस्कुराकर कहा—"अब तो खुश हुए?" उसी दिन उस क़ानूनी विद्वान् ने पद-त्याग कर दिया। और, दण्डाज्ञा सुनाती बार जज के हृदय में उन भावनाओं का उदय हुआ, जो मातृ-वध करते समय परशुराम के मन में उदय हुई थीं।

क्यों? उस नग्न, दुर्बल मनुष्य के सामने महामहिमान्वित शक्ति का इतना लाघव क्यों? चार अंगुल की पैन्सिल के बल पर उस एकाकी व्यक्ति का इतना साहस, इतना प्रताप, इतनी निश्चिन्तता, इतनी स्फूर्ति और इतना प्रभाव क्यों? हिंसा के रक्तपात से लथपथ भू-लोक में किसने भारत को अहिंसा के समुद्र में लीन किया? क्रान्ति के लाल झण्डे को किसने उज्ज्वल-धवल शोभा प्रदान की? तीस करोड़ भिन्न-भिन्न भाषा, भिन्न वेप, भिन्न समुदाय-आचार-विचार, स्वभाव वाले भारत को गुलामी के गला-घोटू वातावरण में किसने एक वेश, एक भाव और एक सूत्र में बाँध दिया? जो सत्य बीसवीं शताब्दी में विजेता जातियाँ भी न पा सकीं, वह भारत के अयोग्य हाथों में अनायास ही किसने दे दिया? उसी एक क्षीणकाय नंगे आदमी ने! क्या तीस-करोड़ .ज्ञों का एक यही उत्तर है?

अच्छा यही सही। मैं एक प्रश्न और पूछता हूँ ? उस पुरुष के व्यूह में घुसते ही भारत की तीर के वेग से जाती हुई नाव थककर क्यों खाने लगी ? उसकी गति क्यों रुक गई ? जिस चाल ने भीषण कलेजों को दहला दिया था, जो सारी पृथ्वी की जातियों के देखने की वस्तु बन गयी थी, योरोप और अमेरिका की जातियाँ जिसकी चाल को देखने के लिये अपना काम छोड़ बैठी थीं, वह चाल किस जादू के जोर से रुक गई थी ? इसका जवाब भी आज ही लूंगा।

क्या सचमुच वही एक आदमी उस इतनी भारी नाव को अपनी फूंक से चला रहा था ? जिस नाव में ऐसे तीस करोड़ नरमुण्ड भरे हुए थे जो अपना सब धन्धा छोड़कर अपने जीवन-मरण के प्रश्न को हल कर रहे थे, उस नाव पर, उन तीस करोड़ नर-मुण्डों में, क्या एक भी ऐसा नहीं था जो इस दुर्बलकाय व्यक्ति के हाथ से डाँड़ लेकर उसे विश्राम लेने देता ? उसके विश्राम की आकांक्षा मानो इतने नर-समुद्र के प्रलय का प्रश्न थी ! उच्च कोटि के असंख्य राजनैतिक और सामाजिक पंडित, अनगिनत महारथी की पोशाक पहने और महारथी तिलक छत्र प्राप्त किये महज्जन इतनी भारी नौका को जिसमें अपनी समस्त पत, आबरू और जीवन भरा था, जिसमें अनेक कुल महिलायें अपनी वीरता के कारण दलित होकर क्रन्दन कर रही थीं, जिसमें अनेक वीर पत्नियाँ अपने पति-पुत्रों को जूझ मरने को उत्साहित करने के लिये उद्विग्न बैठी थी, जहाँ वृद्ध पिता अपने पुत्रों को खोकर अन्धे की तरह निराश्रय हो गये थे, जहाँ करोड़ों किसान, करोड़ों अछूत, करोड़ों विधवाएँ, हाय-हाय कर रहे थे—उस नाव को, इस मध्य धार में थककर खाती छोड़कर,

तोप, बन्दूक, हवाई जहाज वाली, लहरों पर हुकूमत करने वाली जाति के सैकड़ों वर्ष के दृढ़ प्रताप और गौरव को एक हुंकार से हिला दिया। उस शक्ति के तथ्य को ढूंढ़िये—जिसको हृदय में ही धारण करने के कारण उस अस्थि-पंजरमय व्यक्ति के निःश्वास से अंग्रेजी-साम्राज्य बेंत की तरह काँप उठा था। उस शक्ति का रहस्य खोजिये, जिसने उसकी वाणी में शत्रुओं को लज्जित करने वाली, मित्रों को मुग्ध करने वाली और महापुरुषों को शिष्य बनाने वाली बिजली की तासीर पैदा करदी थी।

पर क्या यह सम्भव है? जिस भारत के बच्चे विदेशी भाषा और विदेशी शिक्षा को सीखकर विद्वान् होते रहे; जिस भारत के भद्र पुरुष विदेशी काट के वस्त्र पहनकर सभ्य बनने की चेष्टा करते रहे; जिस भारत के वातावरण में विदेशी उत्कृष्टता और अपनी हीनता की दुर्गन्ध भर गयी थी; जो भारत की प्रत्येक सम्पदा पर ललचीली दृष्टि डालता था और उसे अपने पास न देखकर हाय करता था—उस भारत से क्या इस प्रश्न का उत्तर मिलना सम्भव है? उसमें इतनी योग्यता, इतनी बुद्धि, इतनी प्रतिभा होती तो यह प्रश्न ही न उठता। यह नौका ही न अटकती।

छोड़िये इस विचार विभ्राट् को! अपने अनुवादक मस्तक को व्यर्थ भटकाकर इस घी की मँहगाई के जमाने में न थकाइए। सबसे पहले मैं ही आगे बढ़कर अपनी राय पेश करता हूँ। इस अध्याय के सिर पर पाँच अक्षरों का जो एक छोटा-सा शब्द है, क्या वह कुछ-कुछ इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर नहीं है?

क्या एक 'आत्म-विश्वास' के ही बल पर इस अद्भुत-पुरुष ने अलौकिक महत्व नहीं प्राप्त कर लिया? और, क्या आज

इस युद्ध की आँधी में अपनी टाँगें फाड़-फाड़कर, दिया जलाकर मार्ग ढूँढ़ने के लिए मूर्ख की तरह घबराये हुए इधर से उधर और उधर से इधर दौड़-धूप करते रहे। जो मुँह में आता था—कहते थे। कोई सिद्धान्त नहीं। कोई कार्य नहीं। कोई प्रबन्ध नहीं। कोई गति नहीं। कोई मार्ग नहीं।

तब क्या इन करोड़ों व्यक्तियों में वही व्यक्ति इतना शक्ति-सम्पन्न था? क्या अकेला वही उस महायज्ञ का अनुष्ठान कर रहा था? भारत के करोड़ों नर-नारी बुद्धिहीन भेड़ें हैं या निर्जीव मशीन! बड़ी अद्भुत बात है। प्रश्न कुछ कौतूहलपूर्ण है। पर, अब देखता हूँ कि प्रश्न गम्भीर है। प्रश्न घबराहट का है—प्रश्न विपत्ति का है। पाठक! यदि आप गुलामी और आसरे को तकने वाले हिन्दुस्तानी हैं तो यह प्रश्न आपके दुर्भाग्य का है। यदि आप दब्बू और बोदे भारतीय हैं तो यह प्रश्न आपके लिये जीवन और मरण का प्रश्न है। यदि आप नेता या अपने पास-पड़ोस में गण्य-मान्य है, तो यह प्रश्न आपके लिये लज्जा का है। यदि आप कर्मवीर, तेजस्वी और जूझ मरने वाले भारतीय हैं—तो आपके लिये यह प्रश्न कुछ सीख लेने का प्रश्न है।

भारत के प्रत्येक पुरुष के सामने मैं यह प्रश्न रखता हूँ कि एक क्षीण-काय पुरुष ने किस बल पर ऐसी खूंख्वार-शक्ति से दिल्लगी की तरह युद्ध छेड़ा और इतिहास में अमर विजय पाई? और किस शक्ति के अभाव से भारत के मूर्ख और विद्वान् छोटे और बड़े किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये?

छोड़िये! तलवार, हिंसा, धन, शस्त्र, जन-बल और बाहु-बल की बात। इन बातों का मेरे प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं है। उस शक्ति के उद्गम को ढूँढ़िये जिसने महान् विजयी, दृढ़निश्चयी,

तोप, बन्दूक, हवाई जहाज वालो, लहरों पर हुकूमत करने वाली जाति के सैंकड़ों वर्ष के दृढ़ प्रताप और गौरव को एक हुंकार से हिला दिया। उस शक्ति के तथ्य को ढूँढ़िये—जिसको हृदय में ही धारण करने के कारण उस अस्थि-पंजरमय व्यक्ति के निःश्वास से अंग्रेजी-साम्राज्य बेत की तरह काँप उठा था। उस शक्ति का रहस्य खोजिये, जिसने उसकी वाणी में शत्रुओं को लज्जित करने वाली, मित्रों को मुग्ध करने वाली और महापुरुषों को शिष्य बनाने वाली बिजली की तासीर पैदा करदी थी।

पर क्या यह सम्भव है? जिस भारत के बच्चे विदेशी भाषा और विदेशी शिक्षा को सीखकर विद्वान् होते रहे; जिस भारत के भद्र पुरुष विदेशी काट के वस्त्र पहनकर सभ्य बनने की चेष्टा करते रहे; जिस भारत के वातावरण में विदेशी उत्कृष्टता और अपनी हीनता की दुर्गन्ध भर गयी थी; जो भारत की प्रत्येक सम्पदा पर ललचौली दृष्टि डालता था और उसे अपने पास न देखकर हाय करता था—उस भारत से क्या इस प्रश्न का उत्तर मिलना सम्भव है? उसमें इतनी योग्यता, इतनी बुद्धि, इतनी प्रतिभा होती तो यह प्रश्न ही न उठता। यह नौका ही न अट-कती।

छोड़िये इस विचार विभ्राट् को! अपने अनुवादक मस्तक को व्यर्थ भटकाकर इस घी की मँहगाई के जमाने में न थकाइए। सबसे पहले मैं ही आगे बढ़कर अपनी राय पेश करता हूँ। इस अध्याय के सिर पर पाँच अक्षरों का जो एक छोटा-सा शब्द है, क्या यह कुछ-कुछ इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर नहीं है?

क्या एक 'आत्म-विश्वास' के ही बल पर · ·-पुरुष ने अलौकिक महत्व नहीं प्राप्त · आज

भारत की सन्तानों के हृदयों में आत्म-विश्वास की दिव्य-प्र
सर्वथा नष्ट नहीं हो गयी है ? क्या प्रत्येक व्यक्ति किसी छोटे-
काम को करते समय कायर की तरह अपने चारों तरफ़ न
देखता ? क्या आत्म-विश्वास पर काम शुरू करना, लोग न
बनना नहीं समझते ?

सात-सौ वर्षों तक जबर्दस्तों की जूतियाँ खाकर और तीन-
वर्षों तक पराई गुलामी के आसरे अपने बाल-बच्चों को टुक
जुटाकर आत्म-विश्वास की वह गति, जो सतयुग में निर्विक
ऋषियों की नित्य-दिनचर्याओं में देखी गई थी, त्रेता में बनवा
असहाय राम के चरित्र में, युद्ध से पहिले ही विभीषण को लङ्
का राजतिलक करने में देखी गयी थी, द्वापर के अन्त में भगवा
कृष्ण के पाण्डवों का दूतत्व स्वीकार करते समय कौरव-सभा
देखी थी, और इन अधम दिनों के मध्यकाल में राजपूताने
उद्‌ग्रीव जीवन में देखी गई थी—मर गई, खो गई, लुट गई-
उसका बीज नाश तक हो गया।

पुरुष के सामाजिक-जीवन में आत्म-विश्वास सर्चेलाइट क
प्रकाश है। पुरुष के नैतिक-जीवन में आत्म-विश्वास रीढ़ की हड्डी
है। और भीषण संग्राम के कठिन दिनों में आत्म-विश्वास उसक
अमोघ-शस्त्र है, हिंसा और अहिंसा दोनों प्रकार के युद्धों में आत्म
विश्वास की जरूरत है। हिंसा के युद्ध में मनुष्य भेड़िये की तरह
अपने अधिकार की रक्षा के लिए गुर्राकर खूनी हमला करता है
और अहिंसा के युद्ध में कुल-वधू के सतीत्व-रक्षा के प्रयत्न की
तरह मर मिटता है। दोनों में साहस चाहिये और साहस उसी
में है जिसमें आत्म-विश्वास है। हिंसा के युद्ध में तो मनुष्य दूसरे
के बलों से भी काम लेता है, किन्तु अहिंसा के योद्धा का तो बिना

आत्म-विश्वास के काम ही नहीं चल सकता। उसका सारा बल सहिष्णुता और पतन के अन्त तक निर्वैर-कट्टरता में है। पतन से ही उसकी विजय होती है। निर्वैर-सहिष्णुता का नैतिक और भौतिक प्रभाव न केवल शत्रु और दर्शकों पर पड़कर शत्रु के मन में ग्लानि और दर्शकों के मन में शत्रु के प्रति घृणा और उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता है, वरन् वातावरण में भी एक अप्रकट भौतिक प्रभाव उत्पन्न करता है। मेरी धारणा है कि इसी भौतिक प्रभाव ने भगवान् बुद्ध को अवतीर्ण किया था। राजनैतिक और सामाजिक विशृङ्खलताओं से पीड़ित प्रजा के इसी भौतिक प्रभाव से कृष्ण का अवतार हुआ था। योरोप और अरब की धार्मिक अन्धाधुन्ध की सत्ताओं से मर्माहत प्रजा के भौतिक प्रभाव ने मसीह और मुहम्मद को उत्पन्न किया था। और, सात-सौ वर्ष के छिन्न-भिन्न राजनैतिक जीवन के भौतिक प्रभाव ने ही उस व्यक्ति के दुर्बल तन में अडिग आत्म-विश्वास का सरोवर भर कर उसे पृथ्वी पर जन्म दिया था।

आत्म-विश्वास का माहात्म्य ऐसा ही है। वह कभी दीखता नहीं, पर उसने सदा पृथ्वी की बुराइयों का उन्मूलन किया है। इसी आत्म-विश्वास के बल पर शङ्कर ने घोर नास्तिकता का उन्मूलन किया था। इसी आत्म-विश्वास के बल पर स्वामी दयानन्द ने सारे भारत के अन्धविश्वासों और कुरीतियों के विरुद्ध निर्भय होकर आवाज उठाई थी। इसी आत्म-विश्वास के बल पर बीसवीं शताब्दी के सबसे क्षीणांग और सबसे वीतराग पुरुष ने इतनी शक्ति को निर्भय होकर "शैतान" कहकर ललकारा था।

यह उसका व्यक्तित्व तो था, पर यह कार्य उसकी व्यक्ति के स्वार्थ का न था। 'शैतान सल्तनत का नाश करूँगा'—इस घोषणा

में नैपोलियन और विभीषण की तृष्णा नहीं छिपी हुई थी। यह उस व्यक्ति का सबसे बड़ा त्याग था, जो उसने तीस करोड़ दलित भारत के लिये अपने अलौकिक आत्म-विश्वास पर दृढ़ हो कर किया।

पर यह याद रखना चाहिये कि महान् पुरुष कभी योद्धा नहीं बनते हैं। वे आदर्श बनते हैं। वे मार कर मारना और मर कर मरना सिखाते हैं। वे पथ-प्रदर्शक बनते हैं। क्या कोई कह सकता है कि भगवान् कृष्ण ने युद्ध में महारथी न बन कर सारथी का क्षुद्र स्थान क्यों ग्रहण किया था? गहरी बात है। यदि भगवान् महारथी बनते तो पाण्डव कभी विजयी न होते। सारथी बनने से वे पाण्डव-सेना-समुद्र के पथ-प्रदर्शक बने रहे, महारथी बन कर वे योद्धा मात्र बनते। योद्धा का पद ही क्या है? इसका निश्चय भीष्म, द्रोण और कर्ण के चरित्र से हो जायगा।

भारत मूर्ख था, यदि उसने उस एक व्यक्ति को अपना महारथी समझा था और उसे विश्राम की दो साँस लेने का अवकाश पाते ही युद्ध की चौकड़ी भूल कर विमूढ़ हो गया था। वह व्यक्ति योद्धा को हैसियत नहीं रखता था, वह देश का सेनापति भी नहीं था। इसलिये देश के हारने-जीतने में उसका कुछ स्वार्थ भी नहीं था। वह देश का पथ-प्रदर्शक था। वह देश का सारथी था। अपने अधिकार के वास्ते देश लड़ता था। वह देश को मित्र भाव से मार्ग बताता था। देश कायर बने तो वह देश को वीर बनाता था। देश अपने पैरों पर खड़ा होता, देश स्वयं अपने पर विश्वास करता। देश स्वयं अपने आपको समझता, अपने आप पर भरोसा करता और अपने स्वत्व को प्राप्त करता। वह देश के

यश और अपयश का भागी नहीं था, देश का मित्र था। वह देश का सारथी था। उसने कहा था—निकालो ; बाहर आने दो ; तुम्हारे अर्जुन और भीम कहाँ हैं ? तुम्हारे अभिमन्यु और पाञ्चाल वीर कहाँ हैं ? कृष्ण की गीता को सुनो—उसकी शंख-ध्वनि सुनो। अपना कर्तव्य देखो। अपना लक्ष्य देखो। अपने आप को देखो, अपने बाहुओं को वज्र का बल दो। अपने पैरों को लोहे के स्तम्भ बनाओ और अपनी छातियों को शिला-सी अचल बनाओ। और सब सहारे—सब आसरे, सब आशा, सब निर्बलता त्याग कर युद्ध के मध्य क्षेत्र में अटल आत्म-विश्वास द्वारा अपने ही आसरे अपने ही भुजबल से अपने ही हृदयरक्त से वीरों की कीर्ति प्राप्त करो।

देश बन्धुओ, 'आस पराई जो तकें वे जीते जी मर जायँ'। कभी-कभी आल्हा पढ़ा करो। अंग्रेजी अनुवादों को छोड़ो। योरोप की प्रपंच भरी स्वाधीनता की थोथी बकवादों से भरी पुस्तकों में आग लगादो। आल्हा पढ़ो। हँसो ! रोओ ! उछलो ! उन्मत्त बनो, कपड़े फाड़ो और देखो कि हृदय में आत्म-विश्वास की कुछ छाया उत्पन्न हुई है या नहीं ? अधिक समझ सकते हो तो रामायण पढ़ो। तुलसीकृत या वाल्मीकि—एकान्त में बैठकर, जहाँ रोना आये वहाँ पेट भर कर रोओ। देखोगे कि कुछ-कुछ आत्म-विश्वास पैदा हो रहा है। और भी अधिक योग्यता हो तो महाभारत पढ़ो। इसे बारम्बार पढ़ो, कुछ मिलेगा। जैसे अन्धे को आँख मिल जाती हैं, जैसे बांझ को पुत्र मिल जाता है, जैसे पति को पत्नी मिल जाती है, जैसे बच्चे को माँ मिल जाती है, वैसे ही तुम्हें भी कुछ मिलेगा। मस्त होने की जगह मस्त हो जाना और पागल की जगह पागल। देखो इससे आत्म-विश्वास

पैदा होगा। और तुम सच्चे भारतीय विद्वान् हो, तुम्हारे मस्तक में कुछ भारतीय विद्या का विकास है तो उपनिषद् पढ़ो, नित्य पढ़ो। प्रातःकाल उषा के अंधेरे में एकान्त स्थान में और रात्रि के १२ बजे के सन्नाटे में ऐसे पढ़ो जैसे तांत्रिक तन्त्र साधन करते हैं, तुम्हें जगत् विजयिनी शक्ति मिलेगी। पर्वत की तरह तुम्हारी विशुद्ध भावनायें आकाश तक उठेंगी। निर्मल तत्व की ज्योति से इन्द्रियाँ दिप उठेंगी। अमर तत्व हाथ लगेगा और तब तुम स्वयं चाहे जैसे पापी-पाखण्डी, छली-झूठे, दुर्बल-रोगी क्यों न हो, चाहे जिन व्यसनों में क्यों न फँसे हो, वैसी ही बचाकांक्षा, वैसी ही विजयिनी दृढ़ता तुम्हारे रोम-रोम में रम जायेगी, जैसी तीस करोड़ नर समूह में से केवल एक ही व्यक्ति के शरीर में जाग्रत हुई थी। और जब ऐसा होगा तब भारत के स्वर्ण-दिवस फूल बर्सायेंगे। उस दिन हमारे पूरे भी सज उठेंगे।

नारी जाग्रति

क्या आपको मालूम है कि योरोप और अमेरिका में स्त्री जाति कितनी निर्भय है ? वे रात-दिन, चाहे जब, चाहे जिस अवस्था मे निर्भय दीख पड़ती हैं। वे हजारों मील की यात्राएं अकेली करती हैं। वे प्रत्येक विकास में स्वतन्त्रता से काम लेती है और उनको मनुष्यता के समस्त अधिकार प्राप्त हैं। भारतवर्ष मे ये स्त्रियां लुच्चों, गुण्डों, राहजनों, उठाईगीरों से भरे हुए बाजारों में बे-खटके घूमती हैं। घूमती ही नहीं, खुला सौन्दर्य बखेरती हैं, और किसी भी व्यक्ति का यह दुस्साहस नहीं जो उनकी तरफ आंख उठाकर देख सके।

उनकी यह निर्भयता, उनके शारीरिक बल या और किसी ऐसे कारण से नहीं है जिसका सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व मे हो। वे अपेक्षाकृत हमारी स्त्रियों से ज्यादा कोमलांगी और मितभाषिणी होती है। उनकी यह निर्भयता, उनके सामाजिक विकास का फल है।

कभी भारतवर्ष की स्त्रियों की भी यह दशा थी। वे युद्ध में, राजनीति में, समाज मे और जीवन की प्रत्येक समस्या को हल

करने में समस्त मानवीय विकास और अधिकार की केन्द्र थीं। वे आज की भांति सिर्फ बच्चा पैदा करने और गुलामी भोगने की चीज़ न थीं। आज वे सब भांति से असहाय, अयोग्य और मानवीय अधिकारों से वंचित हैं, और विकास के सारे पहलुओं से कोसों दूर है। ऐसी स्त्रियां हमारे लिये ऐसी सन्तान नहीं पैदा कर सकतीं, जिनकी हमें आज इस आपत्तिकाल में आवश्यकता है। आज हमारा नैतिक पतन यहां तक हो गया है कि हम अपने आपको स्त्रियों के पति और संरक्षक कहलाने में बड़े भारी गर्व का अनुभव तो करते हैं, लेकिन वास्तव में इन दोनों ही योग्यताओं को हम सैकड़ों वर्षों से खो चुके हैं। आज हम स्वयं मन, वचन, कर्म से स्त्रियों जैसे है, और स्वयं किसी पति या संरक्षक की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

आये दिन गुण्डों के उपद्रव देखते हुए और सुनते हुए हमारी आंखें और कान थक गये हैं। कलकत्ता, पंजाब और नोआखाली में हमने अघट घटनाएँ आँखों से देखीं। लेकिन हम अन्धे और बहरे नहीं हुए। न हमारी आंखें फूटीं और न कान ही फूटे। यह हमारी बेहयाई के जीवन का छोटा-सा उदाहरण है। अगर कोई बदमाश गुण्डा हमारी किसी बहिन-बेटी को अपमानित करता है, या ले भागता है, तो हम ज्यादा से ज्यादा इतना कर सकते है कि पुलिस में उसकी इत्तिला कर दें। हमारी बेहयाई और नामर्दी हमको ऐसे अवसरों पर जान पर खेल जाने के लिये नहीं उकसाती। और हमारा यह कमीना धर्म और सामाजिक पतित बन्धन, हमें उस असहाय स्त्री को, जिसकी दुरवस्था के कारण स्वयं हम हैं, भविष्य के अंधेरे कुए में धकेल कर उसका जीवन ही . . . करने को विवश कर देता है। हाल ही में एक हिन्दू

लड़की को, जिसके पिता को मरे केवल दस दिन हुए थे, कुछ बदमाश जबर्दस्ती उठा ले गये, जबकि वह अपने घर के अन्दर बैठकर भोजन कर रही थी। और हज़ारों ही मनुष्य इस घटना को चुपचाप देखकर रह गये।

क्या हमारी स्त्रियों की रक्षा क़ानून कर सकता है? जो प्रश्न ग़ैरत से सम्बन्ध रखता है, उसका निराकरण क़ानून से नहीं हो सकता। अगर देश के मर्दों के शरीर में गरम रक्त का प्रवाह नहीं है और स्त्रियों की रक्षा के लिए उनमें जान खतरे में डालने का साहस नहीं है तो स्त्रियों की रक्षा का और कोई उपाय हमारे सामने नहीं आ सकता। कुछ दिन पूर्व अमेरिका से एक समाचार मिला है कि एक अमेरिकन युवती को भगाने के अभियोग में मुलजिम को फांसी की सज़ा दी गई। एक बार पूर्व रांची में एक गोरी बालिका पर बलात्कार करने के अभियोग में अभियुक्त को आजन्म कालेपानी की सज़ा दी गई थी। अंग्रेज़ी सरकार की दृष्टि में भारतीय स्त्रियों का उतना ऊँचा मान नहीं था, जितना गोरी बीबियों का था। लेकिन यह हो भी कैसे सकता था, जब कि हम स्वयं ही उनका कोई मान नहीं करते! लड़कियों को जबर्दस्ती उठाकर ले भागना इस विचित्र हिन्दू धर्म में धर्म का एक अंग माना गया है। इतिहास प्रसिद्ध महाभारत की यह घटना कि भीष्म पितामह काशीराज की कन्या को जबर्दस्ती हरण कर लाये थे, उदाहरण के लिये काफी है।

बहुओं पर बहुधा घरों में चुपचाप अत्याचार होते रहते हैं। उनके साथ सास, ससुर और दूसरे परिवार वालों का जो अमानुषिक अत्याचार होता है, कभी-कभी तो वह रोमांचकारी हो जाता है। एक घटना हमको देखने को मिली थी कि एक युवती

बहू को उसके पति की अनुपस्थिति में कुटुम्बियों ने पीटकर मार डाला। और अन्त में उसके मुँह में कारबोलिक एसिड डालकर कह दिया गया कि इसने तेज़ाब खाकर आत्महत्या कर ली। ग्वालियर में एक शख्स ने अपनी सोती हुई नवविवहिता स्त्री के मुँह में कपड़ा ठूँसकर पेट्रोल छिड़क कर उसको जला डाला था।

बहुधा छोटी उम्र में शादी कर देने के बाद उन्हें अस्वाभाविक रीति से प्रसंग योग्य बनाने की कोशिश की जाती है। इस कोशिश में बहुधा बालिकायें अपने अध-कच्चे शरीर के साथ नष्ट कर दी जाती हैं। एक बार एक भयानक घटना हमने किसी अखबार में पढ़ी थी कि एक पुरुष ने जिसकी उम्र पैंतीस वर्ष की थी, अपनी पत्नी को जिसकी उम्र दश वर्ष की थी, इसलिये खिड़की में से सड़क पर फेंक दिया था कि वह उसकी पाशविक इच्छा पूरी करना नहीं चाहती थी। कुछ दिन पूर्व मैं राजपूताने के एक क़स्बे में ठहरा हुआ था। एकाएक बहुत से आदमियों का शोर-गुल सुनकर मैं बाहर आया और आश्चर्यपूर्वक देखा कि एक पुरुष एक छोटी-सी लड़की को जबर्दस्ती सड़क पर घसीट रहा है और वह अत्यन्त उच्च-स्वर से क्रन्दन कर रही है। सैकड़ों आदमी खड़े हुए तमाशा देख रहे थे, लेकिन कोई भी उस लड़की को बचाने की चेष्टा नहीं कर रहा था। दरियाफ्त करने से मालूम हुआ कि यह व्यक्ति इस लड़की का पति है। लड़की बेवकूफ़ और पागल है, ससुराल नहीं जाना चाहती और वह जबर्दस्ती लिये जाता है। मैंने सड़क पर आकर उस पुरुष के हाथ से लड़की को छीन लिया, तब भी किसी पुरुष ने उसकी भर्त्सना नहीं की। सब उल्टे मुझे ही समझाने की कोशिश करने

लगे कि आप व
स्त्री है, उसे ले जान का अधिकार ह।

ये दो-चार उदाहरण यह प्रमाणित करने के लिये काफी हैं कि स्त्री जाति के पतन में हम कितने सहायक हैं। धर्म-शास्त्र के ग्रन्थों में मनु, आपस्तम्भ, बौधायन, वशिष्ठ आदि प्राचीन स्मृतिकार पति के मरने पर, उसकी पत्नी को, उसकी सम्पत्ति में से कुछ भी अधिकार नहीं देते। नारद और कात्यायन भरण-पोषण की सुविधा देना चाहते हैं। गौतम और वृहस्पति कुछ थोड़ा-सा भाग! अलबत्ता शङ्ख और याज्ञवल्क्य जो उत्तर-कालीन स्मृतिकार हुए हैं, वे पति की सम्पत्ति पर उसकी स्त्री का अधिकार मानते हैं; लेकिन वर्तमान हिन्दू लॉ जिन स्मृतियों के आधार पर बना है, उनमें स्त्रियों के अधिकारों को बिल्कुल ही छीन लिया गया है। मनु खास तौर से स्त्रियो के अधिकारों पर कुठाराघात करता है। मनु की दृष्टि में स्त्रियाँ कभी भी स्वतन्त्रता प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं और वह पिता और पति की सम्पत्ति में स्त्री को कोई अधिकार नहीं देता। मनु के विवाह सम्बन्धी नियम स्त्रियों के अधिकारों को हरण करने वाले, उनका अपमान और उनका नैतिक पतन करने वाले हैं। मेरी खुली राय है कि स्त्रियों को सगठित होकर मनु की पुस्तक का पूरा तिरस्कार करना चाहिये। हिन्दू समाज मे आज जो स्त्रियों की दुरवस्था है, मनु उसका खास तौर से जिम्मेदार है।

'कन्यादान' हिन्दू विवाह पद्धति की सब मे अधिक महत्वपूर्ण घटना है। लड़कियों के पिता समझते हैं कि वे कन्यादान करके एक बड़ा पुण्य लूटते हैं। मैं प्रत्येक व्यक्ति से पूछना चाहता हूँ कि यह कन्यादान आखिर क्या बला है? पिता लोग कन्याओं

को समझते ही क्या है ? क्या कन्या पिता की मेज, कुर्सी, कलम-दवात है, या कोई जर-खरीद चीज है, कि वह जो चाहे जिसे दान कर सकता है ? क्या जीते-जागते मनुष्य को दान करना एक भयानक असभ्यता और जंगलीपन की बात नहीं है ? क्या लड़कियाँ मनुष्य नहीं, उनके आत्मा नहीं, उनके शरीर नहीं, उनका व्यक्तित्व नहीं ? यदि उन्हें भेड़, बकरी या सम्पत्ति की भाँति दान दे डालना या बेच डालना धर्म है, तो हम नहीं कह सकते कि इस पाजी हिन्दू-धर्म में अधर्म क्या है ? मनु ने जहाँ कन्याओं को दान करने का विधान किया है, वहाँ बेच डालने का भी संकेत किया है।

सिर्फ यही नहीं, जिस बात को साधारणतया अपराध माना जाना चाहिये, जो नैतिक और सामाजिक, दोनों दृष्टियों में पतित कर्म हैं, अर्थात् रोती-कलपती लड़की को जबर्दस्ती लेकर भाग जाना—वह भी एक विवाह मान लिया गया। मनु के समर्थक बहुत से ग्रंथकार लोग है और जनता तो है ही ! मनु के सिवा और ग्रंथकारों ने भी स्त्रियों को अपमानित करने में कसर नहीं छोड़ी। तुलसीदास ही को लीजिये जिनकी बनाई हुई रामायण को हिन्दू स्त्रियाँ अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के भाव से पढ़ती हैं। आपको मालूम है, उसमें स्त्रियों को क्या उपदेश दिये गये हैं ? यह महाशय निहायत भलमनसाहत से स्त्रियों को सलाह देते हैं, कि उनका पति अंधा, बहरा, लूला, लँगड़ा, लुच्चा, बदमाश, शराबी—चाहे जैसा भी हो, उसे ईश्वर समझ कर, मन, वचन, कर्म से उसकी पूजा करना ही उनका धर्म है। वही उनके लिये परमेश्वर है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जिन हिन्दुओं ने निर्लज्जता-पूर्वक एक ही समय में अनेकों स्त्रियों से विवाह किये,

और अविवाहित स्त्रियों से भी सम्बन्ध रक्खे, उन्होंने यहीं तक धृष्टता नहीं की कि वह उन्हें जीते-जी अपना गुलाम बनायें, बल्कि, उन्होंने यह भी व्यवस्था दी कि उनके मर जाने पर वे जिन्दा जला दी जायें। मध्यकाल के हिन्दुओं का सती का इतिहास पृथ्वी भर के मानवी इतिहास में सब से अधिक भयानक, बीभत्स और पाप से परिपूर्ण है। हिन्दुओं को तो इसी एक अपराध पर नष्ट हो जाना चाहिये। आज उसी का यह परिणाम है कि स्त्री-जाति-मात्र मनुष्यता से हीन, आत्म-ज्ञान से रहित, च्युत हुई पड़ी है।

परन्तु क्या हम स्त्रियों के बिना जिन्दा रह सकते हैं? क्या हमारा समाज जिन्दा रह सकता है? क्या स्त्रियाँ हमारे बन्धनों को स्वीकार करती रहेंगी? यह अब असम्भव है। स्त्रियों को जागना होगा। उन्हें जगाना होगा, निर्भय बनाना होगा। तुर्किस्तान की स्त्रियों ने पीढ़ियों के पर्दे को फाड़कर फेंक दिया और वे जीवन और आलोक के मैदान में उतर आई हैं। एशिया की रसी जाति का एक बहुत बड़ा सगठन होने वाला है, जिसमें हिन्दू स्त्रियों को अगर प्रमुख भाग लेने का अवसर न मिला, तो हिन्दू जाति उस अधिकार से च्युत हो जायगी, जिसकी उसे सैकड़ों वर्षों से प्रतीक्षा है और भाग्य जिसे निकट ले आया है।

मैं स्त्रियों को सलाह दूंगा, कि वे ढीले-ढाले घाघरों को फाड़ कर फेंक दें, जेवरों का मोह त्याग दें, सिंगार-पिटार की तरफ से ध्यान हटालें। वे इस बात को दिमाग से निकाल दें कि वे पुरुषों की आश्रित और गुलाम हैं। वे अपने को सिंहनी समझें, और सिंहनी की भांति रहें। उन्हें आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास अपने मन में धारण करना चाहिये। उन्हें इस

बात की आशा छोड़ देनी चाहिये कि स्वार्थी और कायर पुरुष उनकी रक्षा कर सकते हैं। उन्हें प्रतिक्षण अपनी रक्षा स्वयं करने में तत्पर रहना चाहिये। उनको चाहिये कि कटार को अपना सर्वप्रिय आभूषण बनाएँ और सम्भव हो तो रिवाल्वर को। और आवश्यकता पड़ने पर निर्भय होकर उन्हें उसका उपयोग करना चाहिए। भले ही, उनकी जान जोखिम में पड़ जाये। परन्तु इज्जत और आबरू की रक्षा वही कर सकता है, जो निर्भय है। उनको गूंगों-बहरों की भाँति रहने की आदत त्याग देनी चाहिये। उन्हें प्रत्येक सामाजिक और सार्वजनिक कार्यों के अन्दर भाग लेना चाहिये। दूषित और बदमाश, लफंगे पतियों को आवश्यकता पड़ने पर अच्छी तरह ठोक देना चाहिये। मैं चाहता हूँ कि अगर किसी स्त्री का पति व्यभिचारी, शराबी या जुआरी हो, तो वह उसे घर में बन्द करदे और हरगिज खाना न दे। प्रत्येक स्त्री को अपने पति की अपमान-जनक आज्ञा मानने से इन्कार कर देना चाहिये। विवाह के समय कन्यादान की पद्धति का विरोध करना चाहिये। आपत्तिकाल के लिये पत्नी को अपनी सम्पत्ति-स्वरूप पति की सम्पत्ति का एक उचित भाग अवश्य लिखवा लेना चाहिये। प्रत्येक हिन्दू स्त्री दुर्गा का अवतार है, उसे दुर्गा ही के समान होना चाहिये, जो सिंह पर चढ़ती थी और दुष्टों को देखते ही गरज कर कहती थी—"गर्ज गर्ज क्षणं मूढ़..." ऐसी वीरांगना होने पर ही स्त्रियाँ निर्भय हो सकती हैं, और निर्भय होकर ही वे देश की विपत्ति दूर करने में सहायक हो सकती हैं।

शास्त्र में लिखा है कि कोई भी यज्ञ बिना स्त्री की सहायता के पूर्ण नहीं हो सकता। भारत की स्त्रियाँ उत्सर्ग के नाम पर

सदा संसार में अग्रसर रही हैं। हँसते-हँसते विश्व-ध्वंसिनी ज्वाला को आलिङ्गन करने से बढ़कर कोई भी उत्सर्ग देखने को नहीं मिला। जब राजपूताने की आन पर आ बनी थी और राजपूत बच्चों को अपनी तलवार के जौहर दिखाने के अवसर आये थे, उस समय स्त्रियों ने न केवल पति-पुत्रों को ही सहर्ष विसर्जन किया था, प्रत्युत् वही यशस्वी तलवार लेकर वीर-नरों का अनुसरण भी किया था। क्या भारत से वह स्त्रियों का गौरव नष्ट हो गया है? ईश्वर न करे कि ऐसा हो।

मैं यह जानता हूँ कि वीरत्व को फाँसी लग गई है। तलवार की धार में जंग लग गई है। साथ ही स्त्रियाँ भी विलास की सामग्री, पैर की जूती, मोल की बाँदी, व्यभिचार की माध्यम, और बच्चे बनाने की मशीन बना दी गई हैं। यह भी सच है कि वैधव्य, बाल-विवाह, अशिक्षा, आदर्श-हीन जीवन और पराधीनता ने उनकी नस्ल का विध्वंस कर दिया है। पर मुझे यह भरोसा नहीं होता, कि इतनी जल्दी उनके हृदय का तेज—मन का साहस—आत्मा की स्वच्छता भी नष्ट हो गई होगी! फिर भी मैं कहता हूँ कि स्त्रियों में अभी भी इतना बल और योग्यता है कि कोई भी पुरुष उनके सामने झुक जायगा।

मैं फिर यह कहता हूँ कि कोई भी स्त्री पुरुष की गुलाम नहीं है जो वह उसकी आज्ञा, इच्छा तथा अत्याचार को चुपचाप स्वीकार करे। और न कोई धर्मपत्नी अपने पति की वेश्या ही है कि उसे रिझाने को दिन-रात शृंगार-पिटार ही करती रहे। प्रत्येक स्त्री गृहिणी है, घर की स्वामिनी है। जिस पुरुष ने वेद और ईश्वर को साक्षी देकर उसका हाथ पकड़ा है, उसे अर्द्धांगिनी बनाया है, उसके सर्वस्व में वह बराबर की अधिकारिणी है।

१२

वेश्या बहनों के प्रति कर्तव्य-बोध

भारतवर्ष में क़रीब पौने पाँच लाख स्त्रियाँ खुल्लम-खुल्ला वेश्या का पेशा कमाती हैं और इनकी सालाना आमदनी लगभग ६२ करोड़ रुपया है। यह गिनती सिर्फ उन वेश्याओं की है, जिन्होंने खुल्लम-खुल्ला अपना पेशा वेश्या लिखवाया है। इनके सिवा जो छिपे-छिपे वेश्या-वृत्ति करती हैं, उनका कोई हिसाब नहीं है।

आपको इन ६२,००,००,००० (बासठ करोड़) रुपये की तरफ दृष्टि देनी चाहिये। पाठक जानते हैं कि भारतवर्ष में आजकल सिर्फ साठ करोड़ रुपये का कपड़ा विलायत से आता है, जिसके बल पर लंकाशायर और मैनचेस्टर की भीषण मशीनों ने भारत के करोड़ों श्रमजीवियों का खून चूस डाला है। इन ६० करोड़ रुपयों के न मिलने से देश के लाखों जुलाहे भंगी का काम तक कर रहे हैं। इसी साठ करोड़ की रक़म को बचाने के लिए महात्मा गांधी ने जो विराट् प्रयत्न किया है, उससे मैनचेस्टर और लङ्काशायर में हाहाकार मच गया है।

परन्तु वेश्यायें ६२ करोड़ रुपये की मज़बूत रक़म हर साल

गरीब भारत की गाढ़ी कमाई से वसूल करके हमें क्या दे र
हैं? आतशक, सुजाक और तरह-तरह की बेइज्जती। मैनचेस
की हिमायती सरकार है। पर इन भयानक वेश्याओं का हिम
यती कौन है? क्या ये लङ्काशायर और मैनचेस्टर की मशीनों
कम भयानक हैं?

यदि इन ६२ करोड़ का वार्षिक सूद दर सूद लगाया जाय
तो लगभग पौने चार करोड़ रुपया होता है। भारत में १२ वर्ष त
यदि इतनी ही वेश्याएं बनी रहीं, तो ये लगभग आठ अरब रुप
कमायेंगी, जिनका सिर्फ सूद ही इतने दिनों में ५० करोड़ रुप
से ऊपर हो जाता है।

जिस देश में ४० वर्ष के भीतर १७ अकाल पड़ें और उनमे
डेढ़ करोड़ आदमी भूख से तड़प कर मर जांय; जिस देश में प्रति
वर्ष १० लाख, प्रति मास ८९ हजार, प्रतिदिन २९८०, प्रति घण्टा
१२० और प्रति मिनट दो मनुष्य 'हाय अन्न! हाय अन्न!'
कहकर मरें, जहाँ के प्रत्येक मनुष्य की वार्षिक आय १७) से भी
कम है, जहाँ ७० लाख भिखारी द्वार-द्वार टुकड़े माँगते फिरते हैं;
जहाँ १० करोड़ किसान एड़ी-चोटी का पसीना एक कर मुश्किल
से एक वक्त रूखा-सूखा आधा पेट भोजन पाते हैं; वहाँ वेश्यायें
६२ करोड़ (!) रुपये प्रतिवर्ष हरामखोरी से कमा ले जायँ?
अपनी अस्मत, लाज, लिहाज, इज्जत और धर्म को सरे बाजार
बेचकर, और अपने को शरीफ़ज़ादे कहने वाले, इन रज़ीलों के
इस पाप के सौदे को अपनी आबरू, स्वास्थ्य, धर्म, ईमानदारी के
दाव पर यह भारी सौदा करें, तो उस देश के लिए इससे भयङ्कर
और शर्म की कोई दूसरी बात नहीं हो सकती।

हम यह पूछते हैं कि इन पौने पाँच लाख प्रलय के समान

नाशकारिणी वेश्याओं के लिए समाज ने क्या प्रबन्ध सोचा है ? आज देश में नवीन राष्ट्र के निर्माण की तैयारियाँ बड़े ज़ोर-शोर से हो रही हैं। तब क्या यह असाधारण विषय यों ही रह जायगा ? क्या ये पौने पाँच लाख स्त्रियाँ गला घोट कर मार डाली जा सकती हैं ? क्या इन्हें ज़हर खिलाया जा सकता है ? अथवा ये भूखी-प्यासी तड़पाकर मारी जा सकती हैं ?

निस्सन्देह इनका बीज नाश हो जाना चाहिए, परन्तु यह एक बहुत कठिन समस्या है। गत ४० वर्षों से भारतवर्ष में वेश्याओं के समाज से निष्कासन का आन्दोलन जोरों पर है, इस आन्दोलन से वेश्याओं की संख्या में तो कमी कुछ भी नहीं हुई, प्रत्युत् उनकी दशा अधिक शोचनीय हो गयी है। भारतवर्ष में कुछ वेश्याएँ तो हिन्दुओं और मुसलमानों की ऐसी जाति की हैं, जिनकी कन्यायें जन्म ही से वेश्या होती हैं और उन्हें उनका पेशा, प्रारब्ध या अनिवार्य कर्त्तव्य बताया जाता है। बहुत सी ऐसी होती है, जो सामाजिक बन्धनों और धार्मिक अत्याचारों के कारण वेश्या होने को विवश होती हैं। इनके सिवा ऐसी तो बहुत कम स्त्रियाँ हैं, जो कुकर्मी या वासना की गुलाम होने के कारण वेश्याएँ बनी हों। ऐसी दशा में इन बहिनों को नीच समझ कर घृणा करना मेरी दृष्टि में जघन्य पाप है। हम केवल वेश्याओं का बहिष्कार करके, उनके प्रति समाज में ग्लानि या तिरस्कार के भाव उत्पन्न करके वेश्यावृत्ति को नष्ट नहीं कर सकते। वेश्यावृत्ति को नष्ट करने के लिए हमें हर तरह उन्हें साधारण स्त्री-जाति की दृष्टि से देखना, और सच्चे मर्द की तरह उसी भाँति उनके सुख-दुःख और जीवन की समस्याओं को हल करना

होगा जैसा कि हम अपनी बहू-बेटियों या देश की अन्य महिलाओं की करते हैं।

भारत के प्राचीन इतिहास में हम वेश्याओं को प्रतिष्ठित रूप में देखते हैं। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में 'सारस्वती गोष्ठी' का उल्लेख किया है जो प्रतिदिन या प्रति सप्ताह अथवा प्रतिमास होती थी। इन गोष्ठियों में सब प्रकार के स्त्री-पुरुष सम्मिलित होते थे, जिनमें प्रधान भाग गायकों और वेश्याओं का रहता था। प्रवीण और चतुर वेश्याएँ राजा से इनाम और आदर पाती थीं। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि चतुराई की शिक्षा प्राप्त करने को राजा लोग राजकुमारों को वेश्याओं के यहाँ भेजते थे। परन्तु वे वेश्याएँ शुद्धाचारिणी हुआ करती थीं। वाल्मीकि ने लिखा है—

> क्षौद्रं दधि-घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः।
> वेश्याश्चैव शुभाचाराः सर्वाभरणभूषिताः॥

(वाल्मीकि० अयो० का १५ सर्ग ८ वाँ श्लोक)

इसमें वेश्याओं की गिनती मंगल सामग्री के साथ की गयी है और उन्हें 'शुभ आचरण वाली' लिखा है। नन्दिकेश्वर-कृत अभिनय-दर्पण में वेश्या को 'अभिनेत्री' लिखा है। यह ग्रन्थ मूल-रूप में दुर्लभ है, पर इसका अंगरेजी अनुवाद मिलता है। उसमें लिखा है—

"वेश्या अति रूपवती, युवती, पीनकुचधरा, निर्भय, मनोहर, रुचिकरी, कठिन स्थलों को समझने वाली, तालस्वर में परिपूर्ण, स्टेज पर जरा भी न घबराने वाली, हाथ और शरीर को सरलता से इधर-उधर मरोड़ सकने वाली, भाव बताने में प्रवीण, कमल-

यनी, गीत-वाद्य का साथ दे सकने वाली, नाना रत्नों से विभूषिता, न बहुत ठिगनी न लम्बी, न बहुत मोटी न दुबली होनी चाहिए।"

उसका लेखक बहिःप्राण और अन्त.प्राण वेश्याओं का वर्णन इस प्रकार करता है—

"मृदंग, झांझ, वंशी, गीतकार, श्रुतिकार, वीणा, घण्टा और प्रसिद्ध गवैया वेश्या के बहि. प्राण हैं। फुर्ती, शरीर को मरोड़ सकना, सुडौलपन, बात समझने की प्रतिभा, कटाक्ष, कठिन काम भी आसानी से कर गुजरना, बुद्धि, आत्मविश्वास, मधुर भाषण और गीत—ये १० अन्त.प्राण हैं।"

इस वर्णन से प्रकट है कि वेश्या शब्द से इस शास्त्रकार ने एक कलावती नारी का उल्लेख किया है।

एच० एच० विल्सन ने अपनी 'सिलेक्ट स्पेसीमेन्स आफ दी थियेटर आफ दी हिन्दूज' नामक पुस्तक में लिखा है—

"वेश्या से हमें ऐसी स्त्री न समझना चाहिए जिसने धार्मिक बन्धनों को तोड़ दिया हो। किन्तु ऐसी स्त्री समझना चाहिए, जो कि ऐसे असाधारण तौर पर पनी हो, जिसमें वह समाज में विवाहिता स्त्रियों की तरह प्रवेश न कर सकती हो, और जिसके लिए समाज का दरवाजा अपनी लज्जा का बलिदान करने पर खुलता हो, क्योंकि उसने पुरुषों का सहवास करने के लिए ऐसी मानसिक और व्यावहारिक शिक्षा पायी है जिससे साधारण स्त्रियाँ वंचित रहती हैं।"

एक और यूरोपियन विद्वान् का कथन है कि—

"प्राचीन काल में हिन्दू वेश्याएँ यूनान की हेटेरा वेश्याओं के समान थीं। वे शिक्षित और मन-बहलाव के काम में चतुर

होने के कारण विवाहिता स्त्रियों से अधिक योग्य सहचरी होती थीं।…"

वेश्या शब्द का अर्थ होता है—'वेशेण जीवतीति वेश्या' जो वेश-भूषा से जीवन चलाती हो अथवा 'वेशेमवा वेश्या' : सर्व साधारण के प्रवेश योग्य घर में रहने वाली।

पुराणों में अप्सराओं का जो वर्णन है, वह अवश्य ही प्राचीन वेश्याओं का है। उर्वशी, रम्भा, मेनका आदि ऐसी अनेक अप्सराओं के उल्लेख मिलते हैं जिनकी पद-प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व बहुत उच्च था। उनसे बड़े-बड़े प्रतिष्ठित ऋषियों और राजाओं ने सन्तान उत्पन्न की थी, और यह सन्तान अत्यन्त प्रतिष्ठित मानी गयी थी। शिखण्डनी नामक एक अप्सरा ऋग्वेद के एक सूक्त की ऋषि है। यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में अप्सराओं के पाँच जोड़ों का जिक्र है, अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में भी कई अप्सराओं का जिक्र है। वाल्मीकि रामायण में देवी और गन्धर्वी नाम की दो प्रकार की अप्सरायें मानी गई हैं। अयोध्याकाण्ड सर्ग ९१ में लिखा है कि भरत जब रामचन्द्रजी को वन से लौटाने गये थे, तो उनके आतिथ्य के लिए भारद्वाज मुनि ने अप्सराओं को भी बुलाया था, जो वहाँ नाची थीं। वे अप्सरायें कुबेर, ब्रह्मा और इन्द्र ने भेजी थीं। ये अप्सरायें वास्तव में वेश्याएँ थीं—यह स्कन्द पुराण के व्यवहाराध्याय से पता लगता है। अमरकोश कहता है कि स्वर्ग की वेश्याएँ अप्सरा कहलाती हैं (अप्सरास्तु स्ववेंश्यास्यात्) यजुर्वेद के ३०वें अध्याय में एक यज्ञ का विधान बताया है—जहाँ 'नर्मायपुं श्चलू" अर्थात् हास्य के लिए यज्ञस्थल में वेश्या (पुंश्चली स्त्री) को रखे।

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के तीसरे सूक्त के छठे मंत्र में 'पेश'

शब्द आया है। म० म० पं० गौरीशङ्कर, ओझा की सम्मति में यह 'पिशवाज' का मूल शब्द है। प्रसिद्ध अङ्गरेज विद्वान् आर्थर मैकडानल्ड ने इस शब्द का अर्थ 'नाचने-गाने वालियों की भड़कीली पोशाक' किया है। सायण ने भी 'नृतूरिवनृत्यन्ती योपिदिव' अर्थ किया है, जिसमें नाचनेवालियों की ध्वनि है। शुक्ल-यजुर्वेद के ३०वें अध्याय के नवें मन्त्र मे 'निष्कृत्यै पेशस्कारीम्' पद आया है जिसका अर्थ ग्रिफिथ साहब ने ऐसी स्त्रियां बताई हैं जो प्रेम का जादू (love charms) जानती हों। ऋषि दयानन्द ने इसका अर्थ शृंगार करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री किया है। शतपथ ब्राह्मण में उर्वशी और पुरुरवा की विस्तृत कथा है। इसके सिवा शतपथ ब्राह्मण के ३-२-४-६ वेश्याओं के उल्लेख से भरे हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में (कांड २ प्रपाठक ४-११५) लिखा है "हसाय पुंश्चलू"। यहां सायण ने पुंश्चलू का अर्थ स्वेच्छाचारिणी वेश्या लिखा है।

इसी प्रकार प्राचीन संस्कृत-साहित्य और अर्वाचीन सभ्य संसार का साहित्य वेश्याओं की चर्चा से भरा पड़ा है। रोम की साम्राज्ञी थ्योडोरा ने जो स्वयं पहले वेश्या थी, वेश्या-वृत्ति को रोकने के बड़े-बड़े निष्फल प्रयत्न किये थे। यूनानी लोगों ने भी वेश्याओं की वृत्ति को नष्ट करने के बहुत प्रयोग किये थे। प्राचीन रोम ने बड़ी कड़ाई से वेश्यावृत्ति का मूलोच्छेद करना चाहा था। परन्तु कोई भी उपाय गत ५ हजार वर्षों में वेश्यावृत्ति को नष्ट करने में सफल नहीं हुआ। १२वीं शताब्दी मे पोप इन्नोसेण्ट तथा ग्रेगरी नवम ने वेश्याओं से विवाह करने और उन्हें समाज में मिलाने की चेष्टा कर देखी थी। फ्रांस में वेश्याओं

को ज़लील करने की चेष्टा की गयी। जर्मनी में भी कई क़ानून बनाये, पर कुछ भी परिणाम न हुआ।

अमेरिका में डा० पारखर्स्ट ने वेश्या-वृत्ति के विरुद्ध बड़ा भारी आन्दोलन किया था। परन्तु वेश्यावृत्ति सर्वत्र वैसी ही बनी हुई है। कुछ दिन पूर्व न्यूयार्क में वेश्या-वृत्ति को रोकने के लिए एक कमेटी क़ायम की गयी थी। उसने अपनी जो रिपोर्ट प्रकाशित की थी उसका सरांश यह है—

"ग़रीबों के रहने और शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध हो, स्त्रियों की मज़दूरी की दशा उन्नत की जाय, उन्हें आचार की शिक्षा दी जाय, छोटी आयु के बच्चों को बुराई के फन्दे से बचाया जाय, गर्मी आदि के रोगों के उत्तम अस्पताल खोले जायँ, समाज में वेश्यावृत्ति के प्रति तिरस्कार के भाव उत्पन्न किये जायँ, और वेश्यावृत्ति को जुर्म बनाकर उसके लिए कड़ी सज़ा दी जाय। इससे वेश्यावृत्ति में कमी आ सकती है।"

प्रायः आलसी और नीच जाति की स्त्रियाँ वेश्याएँ बना करती है। उससे उनका पिण्ड परिश्रम और अपमान से छूट जाता है। ठाठ का जीवन भी प्राप्त होता है। ग़रीबी वेश्या-वृत्ति का प्रधान कारण है। विद्वान् शारविल का कथन है कि—तेज़ी-मन्दी के साथ ही स्त्रियों का आचार घटता-बढ़ता है। जर्मनी की सरकारी रिपोर्ट के रजिस्टरों में लिखा है कि जिस वर्ष व्यापार की मन्दी रहती है, उस वर्ष रजिस्टर्ड वेश्याओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है। जापान की सरकारी रिपोर्ट का भी यही मत है।

इतिहास से पता चलता है कि हज़रत मूसा ने बहुत ज़ोर

गया था, पर वेश्यावृत्ति नष्ट नहीं हुई। यूनानियों ने तो वेश्या-वृत्ति को नवीन उसूलों पर जारी कर दिया था। बादशाह सोलन ने वेश्याओं के लिए नगरों से बाहर खास खास वेश्या-भवन बनवा दिये थे और उन्हें खास पोशाक पहननी पड़ती थी। धार्मिक पूजा में भाग लेने की आज्ञा लेनी पड़ती थी। परन्तु ये सभी बन्धन आगे न चल सके। जब फारस ने यूनान पर विजय प्राप्त की, तो वेश्यावृत्ति को रोकने की बड़ी भारी चेष्टा की—सख्त क़ानून बनाये, वेश्याओं पर पुलिस तैनात की-वेश्याओं को छोटे-छोटे अपराधों पर कठोर दण्ड दिये गये। ज्यो-ही यह ज़ोर-जुल्म हुआ, गुप्त-वेश्याएँ बढ़ गई। यहाँ तक कि बड़े-बड़े घरों तक की स्त्रियाँ वेश्या-वृत्ति करने लगी। अन्त में बन्धन ढीले पड़ गये। वेश्यावृत्ति के लिए लाइसेन्स दिये जाने लगे।

रोमन लोग प्रारम्भ में वेश्या-वृत्ति को बहुत बुरा समझते थे, उन्होंने वेश्याओं के लिए अत्यन्त कठोर और अपमान-जनक क़ानून बनाये। उससे नागरिकता के अधिकार छीन लिये गये। पर समय बदला और रोम वेश्या-वृत्ति में योरोप भर से बाजी ले गया। उसी वेश्यागमन में रोम का गौरव, राज-पाट और सब कुछ विलीन हो गया।

ईसाई मत में वेश्याओं से घृणा प्रदर्शित करने की जगह उन पर दया के लिये जोर डाला जाता रहा है। उन्हें वेश्यावृत्ति छुड़ाने, सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न किया गया है। उनसे विवाह तक किये गये हैं। पोप पवित्र ने वेश्याओं से विवाह कर लेने को शुभ बताया था। 'ग्रेगरी नवम' ने जर्मन के अधिकारियों को लिख दिया था कि किसी भी वेश्या को गिरजे में जाने से न

को अपनी माँ-बहिन और सगी सम्बन्धी समझ कर इस पाप-पङ्क से नहीं उबार सकते ?

जो लोग गुप्त रूप से वेश्यागमन करते हैं, वे क्या साहस-पूर्वक वेद, अग्नि और ईश्वर की साक्षी देकर उन्हें अपनी धर्म-पत्नी नहीं बना सकते ? उन्हें शिक्षा नहीं दे सकते ? क्या ऐसे पुराने वेश्यागामी नहीं निकल सकते जिन्होंने सारी उम्र इसी धंधे में व्यतीत की हो ? अब वे अपनी मित्र वेश्या को कुटनी-पने के काम से रोकें और पवित्र जीवन व्यतीत करने की सलाह दें।

१३ परजीवियों को नष्ट कर दो

सबसे पहले परजीवी वे हैं जो सिर्फ सूद की घिनौनी कमाई खाते हैं । दूसरे हरामखोर वे हैं जो कहाते तो व्यापारी हैं पर या तो दलाल हैं, या जुआचोर । तीसरे हरामखोर वे हैं जो धर्म के धन्धे करते हैं—महन्त, पुजारी, पुरोहित, पाधा बने बैठे हैं । चौथे हरामखोर वे हैं जो पेशेवर लीडर या उपदेशक हैं । पांचवें हरामखोर वे मुस्टंडे हैं जिन्होंने भीख मांगने और पराये टुकड़े को अपना पेशा समझा हुआ है । छठे हरामखोर वे जिमी-दार हैं जो किसानों का खून पी कर जी रहे हैं ।

इन सभी हरामखोरों को समाज से बिलकुल नष्ट कर देने की आवश्यकता है । ये लोग समाज की छाती के फोड़े हैं । ये रक्त चूसने वाले पिस्सू और खटमल से भी ज्यादा भयानक कीड़े हैं । जब तक यह समाज में जीवित हैं समाज नहीं पनप सकता ।

इसमें सन्देह नहीं कि समाज ने इन्हें अपनी दुर्बलताओं से उत्पन्न किया है, और ये समाज के दुर्बल अंग के आसरे ही जी रहे हैं । जब तक समाज का वह अंग दृढ़ न हो जायगा—इनका प्रभाव नष्ट नहीं हो सकता । परन्तु समाज का वह

अंश बिना इनके नष्ट हुए दृढ़ हो ही नहीं सकता। कुछ ऐसे दृढ़व्रती मज़बूत युवकों की ज़रूरत है जो मुस्तैदी से इन्हें नष्ट करने पर तुल जायँ।

सूदखोरों ही की बात पहिले लीजिये। किसान, मज़दूर, छोटी पूँजी वाले व्यापारी और फिजूलखर्च सद्गृहस्थ इनके चंगुल में फँसे हुए हैं। ये लोग रुपयों की बदौलत रुपया कमाते हैं। इससे कोई बहस नहीं कि सूदखोरों के लिये शास्त्र में क्या व्यवस्था है, पर इसमें कोई शक नहीं कि संसार भर इन लोगों को हरामखोर समझता और इनसे घृणा करता है। आप चाहे जिस देहात में, क़स्बे में चले जाइये, यह शख्स एक साधारण धोती पहने मनहूस सूरत बनाये बैठा मिलेगा। इसके नेत्रों में तेज नहीं, वाणी में रस नहीं, चेहरे पर चमक नहीं, दो-चार दरिद्र किसान और गृहस्थ सदा घेरे बैठे मिलेंगे। यह पाजी भीतर ही भीतर उन्हें भाँप कर देखता है कि किस को कितनी गर्ज है, फिर उसी हिसाब से ब्याज की दर नियत करता है। किसान को लगान देना है, ज़िमींदार के कुत्ते उसकी औरत-बच्चों की इज्जत उतार रहे हैं—किसान निरुपाय हो उसके पास आता है। वह उसकी समस्त फसल मनमाने भाव से अपने क़ब्जे में करने की पक्की लिखा-पढ़ी करके थोड़े से रुपये उसे गिन देता है। वे रुपये इतने कम होते हैं कि दूसरे ही दिन उसे अपने अभागे पेट के लिये कुछ बन्दोबस्त करने फिर उसी कमीने शख्स के पास आना पड़ता और अपने आप को अधिक से अधिक [illegible] पड़ता है। परिणाम यह होता है कि वह आदमी जो इनके चंगुल में फँस गया, फिर किसी भाँति उससे [illegible] सकता। ये लोग क़ानून की मदद से जितने

ऽन्यकारी जुल्म करते हैं उनका वर्णन करना हमारी शक्ति
ाहर की बात है।

मेरी राय मे ऋण लेना उतना बुरा नहीं है जितना कि
समझते है और ऋण चुकाना उतना धर्मकार्य नहीं है
ा लोग समझते हैं। जरूरत में ऋण लिया जाय और न
पर कभी न चुकाया जाय तो कोई अनुचित बात नहीं है।
लेने में मैं केवल इतनी ही बुराई समझता हूँ कि उससे
य निरुद्यमी, आलसी और फ़जूलखर्च बन जाता है। पर
के पास प्रभूत धन है वे मनुष्य आलसी, निरुद्यमी और
लखर्च है ही। समाज ने उन्हे कब रोका है? इसके सिवा
तक मेरा विश्वास है मेरा उपरोक्त सिद्धान्त यदि अमल
ाया जाय तो ऋण से इस समय जो बुराइयाँ हो रही हैं नष्ट
ायेंगी और ऋण पाने वाले कभी निरुद्यम आदि दोषों में
फँसेंगे। क्योंकि फिर तामसी ऋण लेने वाले और तामसी
देने वाले सूदखोर दोनों ही नष्ट हो जायेंगे।

ऋण लेने वाला यदि यह जान ले कि ऋण लेना और लेकर
ाना कोई बुरा काम नहीं है, तो उसका साहस निस्सन्देह
ऋण लेने को बढ़ेगा। और यदि अनायास उसे ऋण मिलने
ा तो वह निस्सन्देह उपरोक्त दोषों में फँस जायगा। किन्तु
लेना लेने वाले के आधीन नहीं है। उपरोक्त सिद्धान्त जहाँ
लेने वाले को उत्साह देगा वहाँ देने वाले को सर्वथा
साहित करेगा। जब ऋण देने वालों का यह विश्वास
ाक ऋण लेना और न चुकाना बुरा नहीं है तो वह किसी
ऋण देगा ही। नहीं, अभिप्राय यह है कि ऋण के वर्तमान
ऐसे हैं जो ऋणदाता को उत्तेजना देते हैं—ढील देते है—
ऋण लेने वाले को कस कर बांधते हैं। परन्तु मेरा नियम

ठीक इससे उल्टा होगा। यह ऋण दाता को वश कर बाँधेगा और ऋण लेने वाले की हिमायत देगा। और यह उचित भी है। क्योंकि ऋण का सम्बन्ध अधिकतर लेने वाले के स्वार्थ पर है। और ऋण लेने वाले प्रायः बड़े ही कष्ट में ऋण लेते हैं। किन्तु ऋण के जैसे नियम बन गये हैं, समाज से भी और कानून से भी, उनके देखते—ऋण से उतना लाभ ऋण पाने वाले को नहीं होता जितना देने वाले को होता है। ऋण पाने वाला ऋण से पूरा लाभ उठाने का अधिकारी होने पर भी वह ऋण के बदले ऐसी कड़ी प्रतिज्ञाओं में बस जाता है कि जिस दुःख से उद्धार पाने को वह ऋण लेता है वह दुःख उसे और भी कष्ट देता है। इसके विपरीत ऋणदाता सूदखोर जो दया-ममता, सज्जनता और उपयोगिता में सर्वथा शून्य है, ऋण से पूरा-पूरा लाभ उठाने को स्वाधीन रहता है, समाज और क़ानून हर तरह उसकी मदद करता है। मैं इसे अन्याय समझता हूँ। मेरा नियम ऋण-दाता को निरुत्साहित करेगा और ऋण पाने वाले को नियन्त्रित करेगा, क्योंकि फिर उसे उत्साह से ऋण देने वाले तो मिलेंगे नहीं, सूदखोर तामसी लोग नष्ट हो जायँगे। तब रहेंगे कुछ ऐसे दयावान्, सज्जन, उदार, पुरुष जो दीन-दुखियों को अड़े वक्त पर सहायता देने ही को ऋण देंगे और यह कभी कामना न करेंगे कि अमुक तिथि पर वह चाहे मरकर, चाहे स्त्री बच्चों को बेचकर ऋण मय सूद चुका दे। विश्वास और प्रेम इनके ऋण का ज़ामिन होगा—विश्वास और प्रेम पाकर ऐसे बहुत कम आदमी निकलेंगे जो विश्वासघात और नीचता दिखायेंगे। ख़ासकर दीन दुखिया, जो वास्तव में ऋण के अधिकारी हैं, कभी विश्वासघात न करेंगे, शक्ति रखते वे ऋण चुकायेंगे। मैं

यह नहीं कहता कि ऋण चुकाना उचित नहीं है, मैं कहता हूँ, आवश्यक नहीं है। ऋण पाने वाले का यह पहला कर्तव्य है कि हाथ में होते ही पहले धन्यवादपूर्वक ऋण चुका दे। पर साथ ही ऋणदाता का यह कभी अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह इस बात की परवाह न करके कि हमने जिसे ऋण दिया है उसकी परिस्थिति क्या है—उससे ठीक मिती पर ही मय सूद के रुपया लेने को बलात्कार करे, उसकी जीवन सामग्री लूट ले, जेल भेज दे या और दूसरे ऋण में कस कर नष्ट होने को मजबूर करे।

इसके सिवा जो पेशेवर सूदखोर लोग हैं उन्हें जाति बहिष्कृत कर दिया जाना चाहिए। उनके समस्त सामाजिक अधिकार छीन लेने चाहिए और उन्हें कोई ऐसा उद्योग-धन्धा करने को विवश करना चाहिए कि वे लोग जो उनसे ऋण में रुपये लेते हैं परिश्रम करके लें, और फिर वापस देने की चिन्ता और झंझट में न पड़ें।

व्यापारी और दलालों को जो वास्तव में जुआखोर लोग हैं नष्ट करने का उपाय यह है कि कारीगर लोग और किसान लोग तथा मजदूर लोग अपना ऐसा संगठन बना लें कि इन लोगों को अपना व्यवहार चलाना ही असम्भव हो जाय। साथ ही जनसाधारण भी इनसे कोई व्यवसायिक सम्बन्ध न रखें।

इन लोगों में छोटे बड़े की परम्परा से इन्हें बहुत सफलता मिल रही है। बड़े व्यापारी छोटे व्यापारियों को, छोटे व्यापारी फुटकर विक्रेताओं को और वे लोग सर्वसाधारण को माल बेचते हैं। प्रत्येक व्यापारी अपनी दलाली के पैसे उसमें बढ़ाता है। फलतः

वह वस्तु ग्राहक को कई गुने मूल्य में पड़ती है, तिस पर उसके शुद्ध होने का कुछ ठिकाना नहीं है।

इन सब अनर्थों की जड़ धन का माध्यम है। मैं ज़रा यहाँ इन पर भी गम्भीरता से विचार किया चाहता हूँ।

धन-सम्पत्ति शक्ति और प्रभुत्व का एक भयंकर और वीभत्स वटवारा हमारे सामने है, समाज ही के सामने एक मनुष्य एक लाख मनुष्यों का रस निचोड़ कर मजा कर रहा है, और समाज ही के सामने दूसरा मनुष्य यह कह रहा है कि संसार में मेरा कहीं कोई नहीं है। एक तरफ धन का, विद्या का, शक्ति का, सत्ता का अटूट भण्डार, और एक तरफ सर्वथा-निराश्रय, निरावलम्ब अन्धकारमय जीवन! क्या इसे हम वीभत्स नहीं कह सकते?

परायों के लिये हमारा क्या कर्तव्य है—इसे बिना जाने ही यह विषम समस्या उठी है। इस विषमता का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि यदि मैं किसी करोड़पति से पूछूँ कि तुम इतने धनी क्यों हो? तो उसका सच्चा और न्यायपूर्ण उत्तर यह होगा कि क्योंकि मेरे हजारों पड़ोसी निर्धन हैं, और यदि मैं निर्धनों से उसकी निर्धनता का कारण पूछूँ तो उसका उत्तर यह होगा, 'क्योंकि मेरा पड़ोसी धनी है।'

धन के माध्यम ने मानवीय जीवन में बड़ी कठिनता खड़ी कर दी है, और मुझे ऐसा समझ पड़ता है कि संसार के सारे अनर्थ धन के माध्यम से ही हैं। मनुष्य जो परिश्रम करता है, उसके बदले धन मिलता है, और जो वह जीवन के लिये चाहता है वह भी धन से ही मिलता है, इस प्रकार उसकी क्रिया और

फल के बीच में धन घुस बैठा है, और उसने अपनी प्रधानता जमा ली है।

एक बार पं० जवाहरलाल नेहरू ने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये थे। वे ये हैं—

"संसार से राजनीति तो समाप्त हो चुकी है अब तो केवल एक ही प्रश्न संसार के सम्मुख है और वह प्रश्न है आर्थिक। एक ओर आज संसार में लाखों करोड़ों आदमी बेकार है, रोटी कपड़े के लिये मुहताज है। दूसरी ओर माल का भाव बढ़ाने के लिये लाखों मन गल्ला समुद्र में फिकवा दिया जाता है। लोगों का कहना है कि संसार में पैदावार बढ़ गई है, किन्तु यह बात बिलकुल गलत है, पैदावार तो नहीं बढ़ी है, किन्तु लोग खर्च नही कर सकते, क्योंकि उनके खरीदने की शक्ति घट गई है अर्थात् Over-production नहीं किन्तु Under-consumption है।

"इसका कारण यह है कि विश्व में इतने प्रकार की मशीनें चल गई हैं कि सहस्रो मनुष्यों के कार्य को कुछ सौ आदमी करने लगे और कारखाने के मालिकों ने (चूँकि वे सब पूंजीपतियों के अधिकार में हैं स्टेट का उन पर कोई अधिकार नहीं है) कुछ सौ को छोड़कर बाकी को काम से निकाल दिया। इस तरह हजारों आदमी बेकार हो गये। इसलिए पैसे से लाचार हो गये। लिहाजा अपने जरूरत की चीजें खरीद नहीं सकते। जो सैकड़ों मनुष्य कारखानों में रहे भी उनकी मजदूरी घटा दी गई, चूँकि बढ़ी हुई बेकारी के कारण मजदूर सस्ते हो गये। अतएव उन कुछ सौ आदमियों में भी इतनी

शक्ति नहीं रही कि वह भी अपनी जरूरत की सब चीजें खरीद सकें।

"अमेरिका में प्रेसीडेन्ट कारखाने के मालिकों से मजदूरी बढ़वा रहे हैं और काम करने का समय घटा रहे हैं, क्यों? इसलिये कि खर्च करने वाले लोगों की खरीदने की क्रय-शक्ति बढ़े। जब काफी खर्च होने लगेगा तो यह आवश्यक है कि जिन्स का मूल्य बढ़ेगा। इसका मतलब यह है कि वे अमेरिका में State-Socialism स्थापित करके वहाँ की बढ़ी हुई बेकारी को सँभालना तथा वहाँ की आर्थिक दशा को ठीक करना चाहते हैं। पर देखना यह है कि वे अपने प्रयत्न में कहाँ तक सफल होते हैं, क्योंकि पूँजीपति लोगों का इसके प्रति विरोध अनिवार्य है।

"आज विश्व में आर्थिक प्रश्न इतना जटिल हो गया है और दिन प्रति दिन होता जाता है कि संसार के धुरन्धर राजनीतिज्ञ और अर्थ शास्त्र के पण्डित भी इसे हल नहीं कर सके हैं, हालाँकि आज तक सैकड़ों विश्व-आर्थिक-सम्मेलन हो चुके, लेकिन सब व्यर्थ हुए हैं।"

वास्तव में देखा जाय तो धन की मनुष्य को कुछ भी जरूरत नहीं है। मनुष्य धन को चबा नहीं सकता, पहन नहीं सकता, मकान की तरह इस्तेमाल नहीं कर सकता। मनुष्य चाहता है अन्न-जल, वस्त्र, घर और दूसरी सुख शान्ति की और जीवित रहने की सामग्री। वह उन्हीं के लिये परिश्रम करता है। धन के युग से प्रथम जब सिक्का नहीं था, तब मनुष्य के परिश्रम और उसके फल के बीच में कोई माध्यम नहीं था। एक के पास वस्त्र था उसे अन्न चाहिए था, एक के पास अन्न था और उसे वस्त्र चाहिए थे। बस परस्पर विनिमय कर लिया। पर जहाँ एक के

पास वस्त्र था, और वह उसके बदले में घर चाहता था, और दूसरे को वस्त्र तो चाहिये था पर उसके पास बदले के लिये घर नहीं था, अन्न था—ऐसी दशा में कठिनाई होती थी। तब ऐसी व्यवस्था उठी कि एक ऐसी वस्तु हो जो सबका माध्यम हो और जिससे बिना प्रयास सब कुछ मिल सके, तब यह धन या सिक्का प्रचलित हुआ। पर इसे जो यह अधिकार प्राप्त था कि इससे सब कुछ प्राप्त हो सकता है इसलिये इसकी चाहना आवश्यकता पूर्ति के लिये ही नहीं रही, प्रत्युत् संचय के लिये भी इसकी चाह होने लगी। यहीं गजब हो गया। आवश्यकता की तो एक सीमा है। आवश्यकता पूर्ति होने पर तृप्ति हो जाती है। पर संचय असीम है। वह तृष्णा है। उसकी पूर्ति हो ही नहीं सकती। मनुष्य ने अपने समस्त बुद्धि-बल को और बाहुबल को इस संचय में लगाया। यहाँ तक कि उचित और अनुचित का भी कुछ ध्यान न रक्खा।

ऐसी माध्यम वस्तु जिसके पास ढेर की ढेर हो जिसके बदले में सब कुछ प्राप्त हो सकता है, उसकी खुशामद, चापलूसी, सेवा वे लोग करने लगे जो किसी तरह उसे सग्रह नहीं कर सके थे। वे उनके लिये पानी भरने लगे, मल-मूत्र उठाने लगे, रसोई बनाने लगे, यहाँ तक कि अपमान भी सहने लगे। इस तरह धीरे-धीरे उनका आत्मगौरव नष्ट हो गया और वे इसी भाव में रम गये। उधर इन सेवकों को पाकर और धन को माध्यम पाकर जहाँ वे अकर्मण्य बन गये वहाँ अत्याचार करते-करते कर्तव्यज्ञान रहित भी हो गये। एक-एक आदमी १६ कहारों को जोत कर पालकी में चलते नहीं लजाता इत्यादि। इस प्रकार समाज में विषमता बढ़ने लगी कि किसी ने बुद्धि से, किसी ने बल से,

[illegible]

एक मजदूर तमाम दिन धूप में खड़ा पत्थर तोड़ता है और उसे १) रुपया मजदूरी मिलती है। जब एक वकील घंटे में बहस उठाता है और ५००) रु० रोज कमाता है। और एक व्यापारी बड़े बड़े सौदे करके दो हजार रुपये कमाता है पर जब वह व्यापारी, वकील या मजदूर बाजार में कुछ खरीदता है तो एक रुपये की वस्तु उसे भी उतनी ही मिलती है जितनी वकील को या व्यापारी को अर्थात् कमाने के समय तो उनका १ रुपया बराबर हो जाता है वकील के ५०० रुपये और व्यापारी के दो हजार रुपये के, पर खर्च के समय उनका रुपया एक ही रुपया रह जाता है और वकील के ५००० रु० ५०० रुपये रह जाते हैं और व्यापारी के दो हजार दो हजार।

वकील, व्यापारी और मजदूर ये तीनों ही अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिश्रम करते हैं जीवन-निर्वाह के लिये। पर चूँकि धन-क्रम और परिश्रम में विषम अन्तर बन गया है इसलिये वह जीवन-निर्वाह के मैदान में आते हैं तो कठिन विषमता हो जाती है, मजदूर बेचारा बहुत-बहुत-बहुत ही पीछे रह जाता है।

सामाजिक कर्तव्य के आधार पर धन, शक्ति, जन और सत्ता पर भी किसी व्यक्ति का अधिकार न होना चाहिए। [illegible] यह कहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति के पास जो धन है वह [illegible] है। उसे उचित है कि वह उसे स्वेच्छा से नहीं, प्रत्युत [illegible] की इच्छा से उपयोग करे। ये लाखों वेश्यायें, असंख्य

कुत्सित पेशे, अगणित नशे, सैकड़ों ठग विद्या, चोरी, जुआ, सट्टा ये सब इसी धन के स्वच्छन्द उपयोग के परिणाम हैं, यह समाज आधीन होना चाहिये।

विचारने से प्रतीत होता है कि वुद्धि वल से संचय के लिए कमाना अप्राकृतिक है, परिश्रम से मजदूरी करना प्राकृतिक है। मैंने मजदूरों को सड़क पर पत्थर कूटते देखा। हिलमिल कर पाँत बाँध कर खड़े थे; शरीर नंगे, काले, चिथड़ों से ढके थे, वैशाख की धूप तप रही थी, सब के हाथ में भारी-भारी लोहे के सड़क कूटने के यन्त्र थे। मुझे दया आई, मैंने मन में सोचा—हाय, ये कैसे कष्ट में हैं। पर तभी उन्होंने मधुर स्वर में गाना शुरू किया और गाने की ताल सुर में सड़क कूटना भी, बीच-बीच में हँसी मजाक भी चलता रहा। एक आनन्द का सोता था जो वह रहा था। मैंने सोचा, ये इतने सुखी ?—इस दशा में ? आश्चर्य !

उधर मेरे पड़ौस में एक सेठ साहब हैं, उन्हें मैं नित्य देखता हूँ, पंखे चल रहे हैं, गद्दे तकिये लग रहे हैं, नौकर-चाकर खड़े हैं, चाँदी की सुराही में जल रखा है, पर सेठ जी को चैन नहीं। उनकी भृकुटी टेढी है। झुंझला रहे हैं, बक रहे हैं, घबरा रहे हैं, चिंता कर रहे हैं, और परेशान हैं—यह सब क्या है ? यह है, संचय की अप्राकृतिक चेष्टा ! यह है, छल, ठगी, चोरी, अत्याचार ! और वह ? वह है जीवन निर्वाह ! वह है समाजसेवा। वे मजदूर सड़क कूट कर चले गये। सैकड़ों घोड़ा-गाड़ी आराम से जा रही हैं। लोग आ-जा रहे है। कितना सुख मिल रहा है। उसी बीच में सेठ ने लाखो कमाये पर कोई उससे समाज को लाभ नही पहुँचा। कितने ही दीन-दुःखी बेघरबार अवश्य हो गये। क्योंकि धनी का धन बिना गरीब को गरीब किये नहीं

बढ़ता। मेरी राय में व्यापार का वर्तमान स्वरूप एक अत्याचार है। केवल नफ़ा उठाने के लिए लाखों मन रुई, गेहूँ, घृत, चीनी आदि खरीदना और उसे भाव गर्म होने तक रोके रखना अवश्य अत्याचार है। मनुष्य ने जहाँ सिक्के को अपने कार्य का मध्यस्थ बना कर उसका अत्याचार सहा है, उसी प्रकार उसने व्यापारियों को अपने जीवन-निर्वाह में मध्यस्थ करके एक दुरूहता पैदा कर ली है। क्या ज़रूरत है इस निकम्मे समुदाय की? जहाँ से वस्तु उत्पन्न होती है; वहाँ से, जहाँ काम में लाई जायगी वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते अनेक व्यापारी अपना-अपना हिस्सा काट लेते हैं और वह ग्राहक को मँहगे दाम में मिलती है। कल्पना कीजिये अन्न खेत से पक कर तैयार हुआ, एक धनी ने धन के बल से लाखों मन खरीद कर रख लिया, इस अभिप्राय से कि मनमाने भाव से बेचेंगे। उससे एक और व्यापारी ने कुछ नफ़ा देकर खरीदा। उससे किसी और ने, इस प्रकार अनेकों ने नफ़ा उठाया, पर इन्हें अन्न की आवश्यकता नहीं थी, इन्होंने केवल नफ़ा लेकर बेचने के लिये ही उसे खरीदा था। अब इन लोगों ने जो नफ़ा लिया वह सब उस अन्न के दाम में जोड़ दिया गया और उसी दाम में वह खाने वाले को मिला। क्या यह अत्याचार या अपराध नहीं है? और इसका ही परिणाम सार्वजनिक दुःख, कठिनता और परेशानी नही है? यह जुआ—जुए की तरह क्षण भर में दरिद्र और क्षण में कोट्याधिपति बना देता है।

'एक और आफत है, व्यापार की आय अपरिमित है। इस प्रथा से समाज में गलत वितरण होता है। क्या हानि है यदि खेत से [illegible] खाने वाले को मिल जाय, बीच के दलाल हटा

यह कहा जा सकता कि व्यापार के नाश होने से भिन्न-भिन्न देश की वस्तुएं भिन्न-भिन्न देश में प्राप्त न होंगी। किसी देश में कोई वस्तु आवश्यकता से कहीं अधिक पैदा होती है जो दूसरे देश में बिलकुल नहीं। जैसे नमक सांभर झील या साल्टरेंट पहाड़ मे बेहद पैदा होता है। परन्तु वह यू० पी० आदि में बेहद होते हैं यहाँ तक कि फ़सल पर सड़ाव करते हैं। कोई पूछता तक नहीं। वही राजपूताने में बिल्कुल नहीं होते। पर मेरी समझ में समाज के लिए यह कुछ असह्य क्षति नही है। जीवन निर्वाह की प्रत्येक सामग्री सर्वत्र है। माता वसुन्धरा सब कुछ सर्वत्र लिये रहती है। जो जहाँ कुछ हो उसी से काम चलाया जा सकता है और लाखों वर्ष तक चलाया जा सकता है, कोई बाधा न पड़ेगी। यह सबसे उत्तम रीति है।

जब रेल न थी, तार न थे, दियासलाई न थी, डाकविभाग न था, तब लोग किस तरह काम चलाते होंगे, इस बात पर लोग विचार करते हैं। मैं इसका उत्तर कुछ नहीं देता, क्योंकि यह बात प्रमाणित है कि उनका जीवन लाखों वर्ष चला है। स्थिति जैसी होती है वैसा स्वरूप क्रिया का बन जाता है। शीघ्र ही लोग कहने लगेंगे, 'जब विमान न थे तो कैसे काम चलता होगा?' यद्यपि आज विमान बिना हमें कोई कष्ट नहीं, पर शीघ्र ही विमान बिना काम नहीं चलेगा। मैं माँस नहीं खाता, मेरे लेखे माँस का कारबार आज बन्द हो जाय, पर मांसाहारी सोचते हैं कि बिना माँस के कोई कैसे रहता होगा? ठीक इसी प्रकार की बातें हैं जो वर्तमान स्थिति की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं। व्यापार का प्रश्न भी वैसा ही है। कितने व्यापार नष्ट हो गये, कितने नये चले हैं। वस्तुएँ बनती हैं, आवश्यकता बढ़ती है।

को लीजिये; ये लोग जब जूते ग्राहकों को बनाते थे और ग्राहक लोग सीधे इन्हीं से खरीदते थे, तब वे जितने सस्ते और मजबूत मिलते थे अब उसकी अपेक्षा दूने मँहगे और कमजोर मिलते हैं। मँहगे तो इसलिए कि व्यापारी नफे की हविस बढ़ी हुई होती है, दूसरे नौकर-चाकर, दूकान का किराया, अपने परिवार का खर्च आदि सब इन्हीं जूतों के ओर से कमाया जाता है। फलतः वह अधिक से अधिक नफा बचा रखने के लिये उचित और अनुचित जितने उपाय हैं सब करता है, उनमें एक उपाय यह भी है कि वह कारीगर से जैसे बने वैसे सस्ते से सस्ता माल लेता है। इसके लिये कई उपाय किये जाते हैं। वह कारीगर को प्रथम कर्ज में फँसा रखता है, उसे घटिया माल लगाने को उत्तेजित करता है, झूठा भराव भराता है, इसलिये जूता कमजोर और निकम्मा बनता है। यह मँहगापन लोग सह जाते है, क्योंकि बाजार में सब जगह वही भाव है और कमजोर की शिकायत नहीं कर सकते, क्योंकि यह दोष कारीगर के गले में मढ़ा जाता है। व्यापारी तो यह कह कर छूट जाता है कि जैसा आया वैसा दिया।

जमींदार भी प्रकारान्तर से व्यापारी ही हैं। वे भी व्यापारियों की ही तरह अपनी भूसम्पत्ति पर कमाते हैं और पड़े-पड़े खाते हैं।

बादशाही जमाने में जब शासन व्यक्तिगत स्वाधीनता के अधिकार में था तब इन जमींदारों की सृष्टि हुई थी। उस से प्रथम भी स्वाधीन जमींदार माण्डलिक राजा कहाते थे। पर वह दशा इस दृष्टि से कुछ अच्छी थी। क्योंकि वे बड़े राजाओं के केवल इतने ही आधीन थे कि वक्त पर सेना की सहायता दें।

पर मुसलमानी साम्राज्य में इन जमीदारों को ठेका मिल जाता था। ये बँधी हुई रक़म बादशाह को दे देते थे और आप मनमाना कर प्रजा से वसूल करते थे। यह मनमानी किसी तरह अत्याचार नहीं मानी जाती थी। अंग्रेजी राज्य में भी कुछ हेर-फेर कर जमीदारों का वही अधिकार रहा। मेहनती किसान पिस रहे हैं, बर्बाद हो रहे हैं और सर्वथा नष्ट हो रहे हैं—और ये निकम्मे फल-फूल रहे हैं। खुशी की बात है अब इनकी समाप्ति हो रही है।

उचित तो यह है कि किसान जमीन के अस्थायी मालिक बना दिये जायें और उनके परिवार की जन-संख्या देख कर सरकार जब चाहे उस जमीन को घटा बढ़ा दे—वे उसे पट्टे पर उठाने, बेचने या अकारण खाली रखने में स्वाधीन न हों, एक तौर से सरकार पर ही उनका उत्तरदायित्व हो और सरकार और उनके बीच में कोई व्यवधान न हो।

किसान अपना एक प्रतिनिधि मण्डल चुन लिया करें और उसमें ऐसा प्रबन्ध हो कि किसान और सरकार से स्वार्थों की समान भाव से रक्षा हो सके, वही किसानों और सरकार के बीच का मध्यस्थ रहे।

सारांश यह कि धन जातीय सम्पत्ति होनी चाहिये, व्यक्तिगत नहीं। कोई आदमी किसी जायदाद को या द्रव्य को अपनी पैतृक सम्पत्ति नहीं कह सकता। जैसे हम प्रथम संचय की निन्दा कर चुके हैं, उसने यह स्थिति उत्पन्न कर दी है कि इस धन का समाज की पराधीनता पर सदा दुरुपयोग होता है। कल्पना करें क एक करोड़पति के पास बहुत रुपया फालतू पड़ा हुआ है। यह उसे देख-देख कर खुश होता है या रत्न, जेवर आदि बनवा-

कर उसे गिजोलता है। जैसे बच्चे पेट भरे पर मिठाई के लालच से खाने को बहुत सा ले लेते हैं, पर खा तो सकते नहीं, उसे बिगाड़ा करते हैं, ठीक वही दशा धनियों के धन की समझिये। इधर तो यह दशा है और उधर एक आदमी के बाल-बच्चे एक मुट्ठी भर अन्न के लिये तड़पते हैं। वह दुःखी होकर, लज्जा को ताक में रख कर धनी के पास जा नर्मी से कहता है कि मेरे बच्चे भूखों मर रहे हैं, कृपा कर दो पैसे चबैने के लिए दे दीजिये। धनी महाशय बड़ी कृपा करके उसके बर्तन गिरो रख कर या दस्तावेज लिखाकर दो पैसे देते हैं, इस शर्त पर कि इतने दिन बाद तीन पैसे तुम्हें वापस देने होंगे, चाहे जान बेचकर लाना, पर देने होंगे जरूर। न होंगे तो हम क़ानून की मदद से तुम्हारे खाने-पीने के थाल और पहनने के चिथड़े, रहने की झोंपड़ी सब छीन लेंगे और तुम्हारे बच्चों को दर-दर बे-घरबार भटकना होगा। दरिद्र बेचारा अपने बच्चे का तरस करके इसी भयङ्कर तं पर पैसा ले आता है, उससे उसके बच्चों की आँखों में दम आता है, पर अगले दिन फिर उसे वैसा ही क़र्ज़ लेना पड़ता है। समाज ने, स्वार्थ ने, संचय ने, विद्या ने उसके कमाने के सब साधन छीन लिये हैं। फलतः वह वापस दे नहीं सकता। अदालत में कानून भी यही न्याय करता है कि बेशक इसे यह पैसा मय सूद देना चाहिये, वरना करोड़पति को उसके घर बर्तन छीन लेने का अधिकार है। ऐसे भेड़िये स्वार्थी करोड़पतियों को तो दिन दहाड़े लूट लेना चाहिये और ऐसे हत्यारे निर्दय कानून को जितनी जल्दी हो, फाँसी लगा देना चाहिए।

लोग कहते हैं कि अधिकारी को धन मिलेगा, पर मिल जाता है हर किसी को। केवल उत्तराधिकारी चाहिये। बड़े सज्जन

सदाचारी को भूखों मरना पड़ता है पर मूर्ख, भोंदू, लम्पट, शराबी धन के स्वामी बन जाते हैं।

जगन्नाथ पण्डितराज को भी इस बात पर गुस्सा आया था। वे कहते हैं :—

भूतिर्नीच गृहेषु विप्र सदने, दारिद्र्य कोलाहलो।
नाशो हन्त स तामसत् फलजुषामायुस्समानां शतम्।
दुर्नीतिं तव वीक्ष्य कोपदहन ज्वालाजटालोऽपिसन्।
क कुर्वेजगदीश यत्पुन रहं दीनो भवानीश्वरः।

अर्थात्—नीचों के घर में सम्पत्ति का चमत्कार और विद्वान् ब्राह्मणों के घर दरिद्रता का कोलाहल, सत्पुरुषों की शीघ्र मृत्यु और पापियों की सौ वर्ष की उम्र देने की तेरी दुर्नितियाँ देखकर क्रोध की अग्नि से जलता हुआ भी तेरा कुछ नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि मैं दीन हूँ और तू ईश्वर है।

पण्डितराज को यह मालूम था कि यह सब सामाजिक अत्याचार का फल है, केवल इसलिये कि वे उत्तराधिकारी थे। इस उत्तराधिकार को हाथी के पैरों तले कुचलवा देना चाहिये। कुत्तों से नुचवा डालना चाहिये। बिना ऐसा किये संसार से दुष्टता, कायरता, अत्याचार और पाप नहीं नष्ट हो सकते। किसी को भी एक तो संचय के लिये कोई वस्तु या द्रव्य प्राप्त नहीं करना चाहिये। और संचय यदि हो भी जाय तो वह समाज की सम्पत्ति समझकर समाज को दे देना चाहिये। क्योंकि 'आदानंहि विसर्गाय' सूर्य की भाँति जो यावन्मात्र रसों को खींचता है, पर सहस्र गुण वापस वर्षा देता है।

धर्म सांड और भिखारी मुसटंडों के विषय में अधिक कहने

ो मुझे आवश्यकता नहीं। देश में ५२ लाख भिखारी हैं जो
गभग सभी मुस्टंडे हैं, और पराया माल खाकर कुत्ते की भांति
न व्यतीत करते हैं। कुत्ते फिर भी मालिक के घर की रखवाली
रते है, पर ये लोग मौका पड़ने पर सद्गृहस्थों की बहू-बेटियों
र भो हाथ साफ करते हैं। इन लोगों में धूर्तों और ठगों का
ड़ा भारी जमघट है। कोई तो कीमिया बनाने के बहाने भोले
ाले लोगों को ठगते हैं, कोई बाल-बच्चा पैदा करने की गुप्त
रकीब जानते हैं। बहुतेरे भूत, प्रेत, जादू, टोना, यन्त्र-मन्त्र
ादि की जुगत बताते हैं। चरस, भग, गांजा, सुलफा फूँकना
नकी सिद्धाई है। गालियाँ बकना, अश्लील चेष्टाएँ करना इनका
ाधुपन है। मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक सद्गृहस्थ कसम खाकर
तिज्ञा करे कि वह लफंगों को कभी एक पाई भी न देगा।

भिखारी को भीख देना, दान या पुण्य नही प्रत्युत् घोर पाप
है। इस पाप की बदौलत देश मे लाखों भिखारी उत्पन्न हो रहे
हैं। किसी देश में भीख माँगने वालो का जिन्दा रहना उस देश
के लिये हद दर्जे की शर्म की बात है।

ये लोग धेले का गेरू और एक पैसा सिर मुण्डाई का खर्च
करके झट साधु बन बैठते हैं। इन लोगों में अधिकांश दादू
पन्थी, रामसनेही, कबीर पन्थी, निरंजनी आदि हैं। इनके बड़े-
बड़े मठ व रामद्वारे है। इन लोगों में श्रमी या कृषक जाति के
बालक ज्यादा भर्ती होते हैं। साधु लोग जाट, माली, गूजर,
विश्नोई और कुर्मियों में से चेला मूड़ते है। ये लड़के साधु होने
में बड़ा आराम समझते हैं। मेहनत से छूट जाते है, और बोहरों
के कर्जे से बचकर दूसरों के माल से स्वयं सेठ बन जाते हैं।

किसी योरोपियन विद्वान् ने इन्हें नरों में सांड बताया है,

जिनके द्वारा विधवाओं और वसहीन गृहस्थों की स्त्रियों में व्यभिचार फैलता है। इन में जो थोड़े बहुत पढ़ जाते हैं वे अपने को 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते हुए अपने ही समान सब को ब्रह्म समझने लगते हैं। ये नीच अपनी शिष्याओं को यह उपदेश देते रहते हैं कि 'ब्रह्मनो, ब्रह्म लगनम्' इसका अर्थ यह होता है कि स्त्री भी ब्रह्म और पुरुष भी ब्रह्म, तो गोया ब्रह्म से ब्रह्म मिला इसमें कोई दोष नहीं।

भारत में प्राचीन काल में कुछ महात्मा त्यागी साधु रहते थे जिन्होंने अपने शरीर और प्राण दोनों को अपने देश के लिये दिया हुआ था। ये महात्मा भिक्षावृत्ति से गुजर करते थे। परन्तु आज धूर्त मुस्टंडे फक्कड़ लोग उस पवित्र भिक्षा को पाने के प्रकृत अधिकारी नहीं। इन लोगों को मजबूर करना चाहिये कि ये पसीने बहाकर रोटियाँ खायें। इनमें बहुतों के पास लाखों की सम्पत्ति है, ये हथियों पर निकलते हैं। इनकी समस्त सम्पत्ति को हठपूर्वक छीन कर सामाजिक उपकारी संस्थाओं के सिपुर्द कर देना चाहिये।

१४
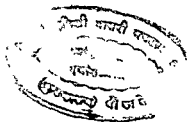
कुप्रथाओं व रूढ़ियों का नाश

याद रखो; गुलाम और नामर्द कौमें हमेशा कुरीतियों और रूढ़ियों को दास हुआ करती हैं। हिन्दू जाति में इन दोनों चीजों की कमी नहीं है। ये दोनों बातें अन्य जंगली और पतित जातियों के समान हिन्दुओं में भी अन्ध-विश्वास के आधार पर हैं।

प्रत्येक जाति के जीवन का आधार प्रगतिशीलता है। जिस में प्रगतिशीलता नहीं, वह जाति जिन्दा नहीं रह सकती। हिन्दू जाति की प्रगति कब की नष्ट हो गई है, और अब यह जाति केवल मौत की साँस ले रही है। सड़ातन धर्म हमारी आत्मा में रम गया है और हम उसी गड्ढे का सड़ा हुआ जहरीला पानी पी-पी कर मर रहे हैं। जिसमें नये जल के आने का कोई सुभीता ही नहीं है।

सड़ातन धर्म दो हजार वर्ष से ज्यादा पुराना नहीं, पुराना होने पर भी मान्य नहीं। मैं इस सिद्धान्त को मानने से इन्कार करता हूँ कि जो कुछ पुराना है वह सब शुभ है और माननीय है। मेरा कहना यह है कि जो कुछ हमारे लिए बुद्धिगम्य और शुभ है वही हमारे लिये माननीय है। धर्म और जातियाँ तो वही

जिनसे वह सकती है जो समय के अनुकूल अपनी प्रगति
[illegible] बनाते रहें।

इसी प्रकार अत्यन्त कुरीति हिन्दुओं की विवाह प्र
है। इस प्रथा की आड़ में अगणित पाप, पाखण्ड, अत्याचार अ
अनाचार किये जाते हैं। विवाह का मूल उद्देश्य स्त्री-पुरुष
परस्पर आत्मभावना का नैतिक विनिमय है, जिसके आ
पर प्रकृति का प्रवाह चल सकता है। इसमें ही से स्त्री-पु
दोनों मिल कर एक सत्य बनता है। अतः समान पर उपयुक्त स्त्री
पुरुष का परस्पर सहयोग होना आवश्यक है।

परन्तु यह सहयोग वैज्ञानिक भित्ति पर है। इसका सब
मोटा उदाहरण तो यही है कि सपिण्ड और सगोत्र स्त्री-पु
संयुक्त नहीं हो सकते। यह बहुत गम्भीर और वैज्ञानिक बात
कि भिन्न रक्त और वंश को मिला कर सन्तानें उत्पन्न की जायें
परन्तु यह विधान तो प्रायः नष्ट कर दिया गया है।

विवाह की प्रथा में सबसे ज्यादा बेहूदा और अधर्म क
परिपाटी 'कन्यादान' की परिपाटी है। पिता कन्या को वर के
लिये दान देता है। हिन्दू विवाह में यह सर्वाधिक प्रधान बात
है। किसी जीवित आदमी को दान करना या बेच देना कह
तक जङ्गली बात है इस पर मैं हिन्दू मात्र को विचार करने की
सम्मति देता हूँ। शोक तो यह है कि आर्यसमाज की पुत्रियां
भी विवाह के अवसरों पर पिताओं द्वारा दान की जाती हैं।
आर्यसमाजी वैदिकधर्मी होने की डींग तो हांकते हैं पर मैं उन्हें
डंके की चोट चैलेन्ज देता हूँ कि वे साबित कर दें कि कन्यादान
का विधान करने के मन्त्र किस वेद में हैं ? वेद में तो ये शब्द

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।"

सनातन धर्मियों के विवाह की अपेक्षा मुझे आर्यसमाज के विवाह ज्यादा भ्रष्ट और बेहूदे प्रतीत होते है और मैं उन्हें कदापि नहीं सहन कर सकता। सनातन धर्म की कन्याएँ— बालक, अभागिनी, अबोध, मूर्खा और पिता की सम्पत्ति होती हैं। पिता वर का स्वागत करता है, आसन देता है, गोदान करता है, मधुपर्क देता है, पाद्य और आचमनीय देता है, तब कन्या को भी दे देता है। इसके बाद वर-वधू सप्तपादी आदि भी करते है। इन सब बातों में जैसा भी पातक या अनीति हो वह क्रमबद्ध तो है। पर आर्यसमाज की पुत्रियाँ युवती है, पढ़ी लिखी हैं विवाह के प्रश्नों पर उन्हें विचार करने का अवसर दिया जात है, बहुधा कन्या को भावी वर को पसन्द करने का अवसर भ दिया जाता है। विवाह की वेदी पर कन्या स्वयं वर का स्वाग करती और अर्घपाद्य आदि देती है। इसके बाद पिता कन्यादा देता है, और तब प्रतिज्ञाएँ या सप्तपदी की क्रियाएँ की जा हैं। अजी जनाब, मैं यह पूछता हूँ, जब कन्या दान हो कर तब प्रतिज्ञाओं का क्या महत्व है? यदि वर-वधू प्रतिज्ञाओं इन्कार कर दें तो क्या कन्यादान वापिस हो सकता है? आ समाज के पण्डितगण वेद-मन्त्रों की व्याख्या करके वर-वधू प्रतिज्ञाओं के अर्थ समझाने की चेष्टा करते हैं। सनातन धर्मी एक रस्म पूरी करके छुट्टी लेते हैं। इसीलिये मैं कहता हूँ आर्य समाज की विवाह-पद्धति ज्यादा आपत्ति-जनक है।

स्त्रियों को बिना रुचि जाने, बिना उसको अपने जीवन विचार करने का अवसर दिये, बिना पुरुषों की स्वेच्छा से उन विवाह कर देना स्त्री जाति मात्र का घोर अपमान करना है

इस कुकर्म ने हिन्दू जाति की स्त्रियों के सब सामाजिक अधिकार छीन लिये हैं, और उन्हें निरीह पशु के समान बना दिया है। इसी कन्यादान की प्रथा के कारण पति की सम्पत्ति में उनका कुछ भी अधिकार नहीं। विधवा होने पर वे केवल रोटी-कपड़ा पा सकती हैं, मानों वे घर की कोई बूढ़ी निकम्मी गाय-भैंस हैं। संसार की किसी भी सभ्य देश की स्त्री विवाह होने पर हिन्दू स्त्री की भाँति बेवस नहीं हो जाती। इसका कारण यही है कि वह दान की हुई वस्तु है और उसके प्राण, आत्मा और शरीर पर उसके पति का पूर्णाधिकार है।

बालविवाह इस कुकर्म का दूसरा स्वरूप है। आज ढाई करोड़ विधवायें इस कुकर्म के फलस्वरूप हिन्दुओं की छाती पर बैठी ठंडी साँसें ले रही हैं। कोई ज़हर खाकर दुःख से छुटकारा पाती है, कोई भंगी, कहार, मुसलमान के साथ भागकर खानदान का नाम रोशन करती है।

मैं ऐसी अनेक छोटी-छोटी रियासतों की रानियों को जानता हूँ कि जिन्हें उनके लम्पट रईस पतियों ने बुढ़ापे में ब्याहा और जवानी में छोड़ मरे, और वे खुली व्यभिचारिणी और स्वेच्छा-चारिणी की भाँति विचरण करती हैं। एक बार एक युवक ने हमें बीस हजार रुपये भेंट करने चाहे थे यदि मैं उसकी माता को जो उस समय मेरी चिकित्सा में थी, विष देकर मार डालता। उसका कारण यह था कि वह युवक के मृत पिता की चौथी स्त्री थी। एक रियासत में हमारे पुराने परिचित एक मित्र महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी थे जो उनके मरने पर महारानी के भी प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। कुछ दिन पूर्व हमें दैवयोग से उस स्टेट में जाने का अवसर हुआ। तब युवक राजकुमार अधिकार सम्पन्न

हुए थे। चर्चा चलने पर उन्होंने क्रोध रोकने में असमर्थ होकर कहा, यदि वह सूअर यहां आयगा तो मैं अपने हाथ से उसे गोली मार दूंगा।

वृद्ध विवाह संसार के सभी देशों में होता है, परन्तु बराबर की स्त्रियों के साथ। पोती के समान बालिकाओं को इस प्रकार संसार की कोई भी सभ्य जाती कुर्बान नहीं करती।

इस कुप्रथा के कारण अनेक बूढ़े खूसट धन के लालच में गुणवती कन्यायें पा जाते हैं, और बेचारे दरिद्र युवक रह जाते हैं।

एक कामुक ने सत्तर वर्ष की आयु में विवाह करने की इच्छा प्रकट की। और जब हमने उससे उसका कारण पूछा तो कहा— हमारे मरने पर रोने वाला भी तो कोई चाहिये। इस पतित रईस की बातें सुनकर मिस्र के पुराने राजाओं का हमें स्मरण हो आया जो अपनी समाधियों में जीवित स्त्रियों को दफ़नाया करते थे।

बाल पत्नियों के भयानक कष्टों को हमें देखने के बहुत अवसर मिले हैं। इस कुप्रथा से हमारा बहुत-कुछ शारीरिक और मानसिक ह्रास हो रहा है। जो बड़ी उम्र के लोग अपना दूसरा और तीसरा ब्याह करते हैं, उनकी पत्नियों की बड़ी दुर्दशा होती है। वे प्रायः पति-संसर्ग से भागा करती हैं, और अन्त में उनके साथ जो व्यवहार किया जाता है उसे बलात्कार के सिवा कुछ कहा ही नहीं जा सकता।

राजा और रईसों के घरों में बहुपत्नी की प्रथा उनके लिए शान की बात है। हमें बहुत से बड़े घरों के हालात मालूम हैं जहां प्रतिवर्ष दो-चार खून या गुप्त हत्यायें केवल स्त्रियों के

मारना ही होती है। कुछ दिन पूर्व एक बड़े राजा की चिट्ठि
छापी गई थीं जिनमें जबरदस्ती एक रईस की स्त्री को हथिय
लिया था और कुछ रुपये दे कर उसका सर्वाधिकार प्राप
करना चाहा था। इसमें महत्वपूर्ण बात तो यह थी कि ब्रिटि
सरकार के उच्चाधिकारी ने इस सौदे को पटाने में हाथ बटाय
था।

इन राजाओं और रईसों के घरों में कैसे पातक होते हैं औ
कैसी-कैसी बीभत्स घटनाएँ होती हैं इस पर अब तो बहुत-कु
प्रकाश पड़ गया है। परन्तु जब तक पत्नी के लिये ऐसे पति
पति की आज्ञायें मानना और सौत के आधीन होना धर्म की
बात समझी जाती है तब तक इस कुकर्म से स्त्री जाति को छुट-
कारा नहीं मिल सकता।

अनमेल विवाह एक पाप है—परन्तु हिन्दू समाज में यह
एक ऐसे धर्मबन्धन में है कि जैसी भी अनमेल स्थिति में स्त्री-
पुरुष हों उनका धर्म है कि वे उसमें सन्तुष्ट हों। इस अनमेल
विवाह के सबब से लड़कियों को बहुत से कष्ट उठाने पड़ते हैं।
जिसके फलस्वरूप गर्भाशय और जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोगों से
भारत की प्रायः प्रत्येक स्त्री दुःखी है।

विधवाओं से देश के कुछ भाग में ऐसा अत्याचारपूर्ण
व्यवहार किया जाता है कि देखते छाती फटती है। स्त्री-शिक्षा
की दशा असन्तोषजनक होने से उनकी हालत और भी दुःख-दायी
हो जाती है यद्यपि लड़कियों को पढ़ाना पाप समझने वाले अब
बहुत कम रह गये हैं, फिर भी उनको शिक्षा देकर उन्हें स्वाव-
लम्बी होने की योग्यता प्राप्त कराने वाले माता-पिता उङ्गलियों

पर गिनने योग्य हैं। इसलिए अधिकतर स्त्रियाँ अज्ञान में फँसी हैं और यही उनके कष्टों का एक भारी कारण है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि इन सब कुप्रथाओं का कारण हमारी राजनैतिक-पराधीनता और आर्थिक-दरिद्रता है। यद्यपि यह कथन सम्पूर्णतया सत्य नहीं, फिर भी कुछ अंशों तक तो इसमें सत्य है ही। परन्तु असल बात तो यह है कि हमारी कुप्रथाओं की परम्परागत संस्कृति और उन्हें कायम रखने की हमारी खोटी प्रवृत्ति ही हमारी राजनैतिक और आर्थिक दरिद्रता का असली कारण है। 'लकीर का फकीर' होना, रूढियों का गुलाम होना हमारा स्वभाव है, और इसी कारण हम साहस-पूर्वक उन घृणास्पद और निकम्मी प्रथाओं को मानते हैं जिनमें कुछ भी सार नहीं है। उन नई प्रथाओं को हम स्वीकार नहीं कर सकते जो हमारी उन्नति और रक्षा के लिये बहुत जरूरी हैं।

सती होना हिन्दू समाज में किसी जमाने में उच्च-कोटि का हिन्दू धर्म समझा जाता था। शताब्दियों तक स्त्रियाँ जबरदस्ती सती होती रहीं जिनके वर्णन ही अत्यन्त रोमांचकारी हैं। हिन्दू विधवा का जीवन कैसी रोमांचकारी, व्यथापूर्ण, कष्टों का समुद्र और शुष्क है यह प्रत्येक हिन्दू के विचार के योग्य है। यहाँ हम एक अभागिनी विधवा का जो समाचार-पत्रों में सती कह कर प्रसिद्ध की गई थी थोड़ा-सा संक्षिप्त हाल लिखते हैं।

दो वर्ष की आयु में एक धनी घर में उसकी सगाई हुई और ८ वर्ष की आयु में वह विधवा हो गई। इसके बाद वह संयुक्त परिवार के १७ स्त्री पुरुषों के बीच में रहने लगी। वह शीघ्र ही उन सबकी गालियों और तिरस्कार एवं मारपीट की अधि-

कारिणी हो गई। सबसे अधिक अत्याचार उस पर सास और विधवा ननद का था। उसने बड़े कष्ट से ६ साल काटे। उसके ऊपर यौवन और संसार का सबसे बड़ा संकट उसके सम्मुख आया। उसके ज्येष्ठ की कुदृष्टि उस पर पड़ी। वह नीच और लम्पट आदमी था। उसके भाव को ताड़ कर वह अभागिनी भयभीत रहने लगी, और अन्त में उसने कुएं में डूब मरने का इरादा कर लिया। इस इरादे को जान कर उसकी सास ने उसे क्रोध से पकड़ कर उसका हाथ उबलते हुए चावलों में डाल दिया और कहा—अब समझ कि मरना कैसा है! अभागिनी स्त्री उस पीड़ा को सह गई और बराबर काम करती रही। अन्त में न जाने कहां से उसने कुछ प्राचीन सतियों के कुछ वर्णन सुने और उसे सती होने की धुन सवार हो गई। एक प्रकार के उन्माद में ग्रसित होकर उसने अपने सती होने की इच्छा बलपूर्वक सब पर प्रकट कर दी।

यह जान कर उसकी सास ने प्रसन्न होकर कहा—"तू धन्य है, जा मेरे पुत्र को सुखी कर।" उसके लिये ब्याह के वस्त्र मंगवाये गए और खूब गहने पहनाए गए। गांव भर में चर्चा फैल गई। उसे गा-बजा कर जंगल में ले गए। उसी के पाथे हुए उपलों से चिता चुनी गई और उसे सुला दिया गया। उसका एक हाथ और सिर छोड़ सारा शरीर ढांप दिया गया था। हाथ में फूँस का पूला दे उसमें आग लगा दी। क्रिया कर्म करने वाले पण्डित जोर-जोर से मन्त्र पढ़ने और घी डालने लगे। जोर के बाजे बजने लगे और जय जयकार होने लगा। धुएं का तूमार उठ खड़ा हुआ, इस प्रकार वह अभागिनी जल कर खाक हो गई

और सती कहलाई। पीछे पुलिस ने बहुत से लोगों का चालान किया।

श्रीमती डा० मुथ्युलक्ष्मी रेड्डी ने एक बार मदरास व्यवस्थापिका सभा में कहा था—"हिन्दू क़ानून के अनुसार एक साथ कई स्त्रियों से विवाह किया जा सकता है, इसलिये जब पति लड़की को अपने घर बुलाना चाहे, उसके माता पिता हरगिज इन्कार नहीं कर सकते क्योंकि सदैव ही इस बात का भय बना रहता है कि लड़के की दूसरी शादी कर दी जायगी।"

शारदा विवाह-बिल के विरोध में कुम्भकोनम के स्वीकृल मठ के जगतगुरु शंकराचार्य ने घोषणा की थी कि यह बिल हिन्दू धर्म के उन पवित्र सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल है जिन्हें सनातनी ब्राह्मण बहुत प्राचीन काल से मानते चले आये हैं। पवित्र सिद्धान्तों में इस तरह का हस्तक्षेप हम किसी कारण से भी सहन न कर सकेंगे।

अब यद्यपि सती की प्रथा क़ानूनन उठा दी गयी है पर अदालतों के सामने हर साल गैरक़ानूनी सती होने का एक न एक मुक़दमा आता ही रहता है। प्रायः बहुत सी विधवायें जीवन के कष्टों से ऊब कर वस्त्रों पर मिट्टी का तेल डाल कर जल मरती हैं। ख़ास कर बंगाली अख़बार उन सबको सती का रूप देते हैं और खूब रंग कर उनका वर्णन छापा करते हैं।

कुछ दिन पूर्व बनारस में अखिल भारतवर्षीय ब्राह्मण कान्फ्रेंस हुई थी जिसमें भारत के सब भागों के तीन हजार शास्त्री एकत्र हुए थे। उसमें गहन संस्कृत भाषा में सत्रह प्रस्ताव पास ,, जिनमें एक यह भी था कि लड़कियों का विवाह आठ साल .

आयु में कर दिया जाय। अधिक से अधिक नौ या दस साल तक अर्थात् ऋतुमती होने से पूर्व तक।

पर्दा हिन्दू समाज पर एक अभिशाप है, जिसे दूर होने में अभी न जाने कितनी देर है। हमने स्त्रियों को सब तरह से असहाय कर रक्खा है।

बड़े घरों में हमें जाने का बहुधा अवसर मिलता रहता है। एक प्रतिष्ठित ज़मीदार के घर का हाल सुनिये।

मकान की दूसरी मञ्जिल पर एक कमरा लगभग १२—६ फीट है। तीन तरफ सपाट दीवारें और सिर्फ एक तरफ एक दरवाजा है जो कि एक लम्बी गैलरी में है। कमरे में सदैव ही अन्धकार रहता है। इसमें एक पुरानी दरी का फर्श पड़ा है जो शायद साल में एकाध बार ही झाड़ा जाता है। दीवारें काली हो गई हैं, और उसमें सदैव ही दुर्गन्ध भरी रहती है। घर भर की स्त्रियां इसी में दिन भर बैठी रहती हैं, और भाँति-भाँति की बातें करती हैं। घर की बूढ़ी गृहिणी वहीं पीढ़ी पर बैठती है, उसे घेर कर तीन बेटों की स्त्रियां, दो विधवा बेटियाँ, कई चचेरे भाइयों-भतीजों की स्त्रियां, एक दो दासियाँ सब वहीं भरी रहती हैं। कुछ तम्बाकू खाती हैं, वे फर्श पर योंही थूकती रहती हैं। १५-२० बच्चे बेतरतीबी से योंही खेलते-कूदते फिरा करते हैं। कभी रोते, कभी मचलते, कभी शोर मचाते और कभी ठूँस-ठूँस कर खाते और वहीं सो रहते हैं।

ये स्त्रियाँ दिन भर कुछ काम नहीं करती। उनका खास काम पतियों की आज्ञा पालन करना या सोना है। वे सब घर में ठाकुर-पूजा करती हैं, भोजन के समय पति को खिला कर खाती हैं। कभी पति से बोलती नहीं, उसके सामने आती नहीं, दिन-

भर पान कचरती, मिठाइयाँ खाती या सोती रहती है। उनकी बातचीत का विषय गहना, कपड़ा, बच्चों की बीमारियाँ, बच्चे पैदा होने की तरकीबें, गंडे, ताबीज, जन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, साधु, पति को वश में करने की तरकीबें, एक दूसरे की निन्दा, कलह यही उनकी नित्यचर्या है।

वे प्रायः सब अपढ़ हैं। एक पढ़ी-लिखी बहू है, उसकी उन सब के बीच में आफत है। बुढ़िया सब को हुक्म के तावे रखना चाहती है, और पढ़ना-लिखना भ्रष्टता का लक्षण समझती है।

सब स्त्रियाँ प्रायः रोगिणी है। दो बहुएँ क्षय से मर गई हैं। एक की प्रसूति में मृत्यु हुई है। जब वृद्धा से कहा गया कि आप लोगों को धूप और खुली हवा में रहना चाहिए और परिश्रम करना चाहिये, तब वृद्धा ने कुछ नाराजी के स्वर में कहा—खुली हवा, धूप और परिश्रम नीच जाति की स्त्रियाँ करती हैं या भले घर की बहू बेटियाँ ?

जिस स्त्री को खाँसी और ज्वर है उसके दोनों फेफड़े क्षय रोग से आक्रान्त हैं। पर वह अपने बच्चे को दूध बराबर पिलाती है। बच्चा भी अत्यन्त कमजोर है, वह रात भर रोया करता है। वह स्त्री अपना कष्ट भूल उसे रात भर गोद में लेकर हिलाती रहती है।

स्त्रियाँ और बच्चे इस घर में बराबर मरते रहते हैं पर और नये पैदा होते ही रहते हैं। यह सिलसिला बराबर जारी रहता है।

वे स्त्रियाँ इस गन्दे अन्धेरे घर में प्रसन्न हैं। उन्हें पतियों के प्रति शिकायत नहीं। वे खुली हवा में घूमना अधर्म समझती हैं,

आवश्यक था। इन सभी बातों के कारण इन अंगों को गुप्त रखने-ढकने आदि की तरफ मनुष्य समाज का ध्यान बढ़ चला।

लज्जा अब तक उत्पन्न नहीं हुई थी, पर यह बात अनुभव से देखी गई कि इन अवयवों को यत्न से ढकने पर काम के वेग को उत्तेजना मिलती है। इस अनैसर्गिक उत्तेजना के प्रादुर्भाव ने स्त्री-पुरुषों में गुप्तांग को यत्नपूर्वक ढकने की रीति के साथ ही लज्जा का भी समावेश कर दिया। इसके बाद ही वस्त्रों की कड़ी आवश्यकता ने वस्त्रों का अविष्कार कर दिया और मनुष्य जाति सभ्यता के युग में एक कदम आगे बढ़ी।

सभ्यता के इस प्रथम चरण काल में स्त्रियों का स्थान पुरुषों से श्रेष्ठ था, तथा शारीरिक बल में वे पुरुषों के समान थीं। आज ब्रिटिश कोलम्बिया के आदिम निवासियों की स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही शिकारणी होती है। तसमानिया में मछली पकड़ने और ऊँचे-ऊँचे दरख्तों पर चढ़ने में पुरुष स्त्रियों का मुकाबला नहीं कर सकते। प्रायः पृथ्वी भर में प्राचीन जातियों की स्त्रियाँ आवश्यकता पड़ने पर युद्ध में लड़ी हैं। कांगो प्रदेश की जङ्गली जाति की स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही मजबूत होती हैं, और उतना ही बोझा ढो सकती हैं। उत्तर अमेरिका और ग्यूयाना की असभ्य जातियों की स्त्रियाँ आज भी दो पुरुषों के बराबर काम करने की शक्ति रखती हैं। अरब, तुर्किस्तान और रूस की अर्द्धसभ्य जातियों की स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर कद्दावर और पूरी सामर्थ्यवान होती हैं।

यह हुई शरीर सम्पत्ति की समानता की बात। अब उपयोगिता को लीजिये। उपयोगिता की दृष्टि से प्राचीन काल में

पति के साथ घूमना या बातें करना तो वे एक दम पाप की बात समझती हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल में जब मनुष्य जाति आज की तरह सभ्य नहीं हुई थी और वस्त्रों का निर्माण नहीं हुआ था, तब मनुष्य पशुओं की तरह नङ्गे रहते थे। शुभ्र आकाश के नीचे प्रकृति देवी की गोद में वस्त्र रहित विचरण करना और फल-फूल खाना उस काल के स्त्री पुरुषों का स्वाभाविक जीवन था। धीरे-धीरे मनुष्यों के हृदयों में भावुकता उत्पन्न होने लगी और शरीर को सजाने तथा कृत्रिम रीति से रंगने की रीति चली। उन्होंने रङ्ग-विरङ्गी मिट्टी से शरीर को रंगना शुरू किया। बाद में उन्होंने गोदने गुदवा कर शरीर पर स्थायी रङ्गीन चित्र अङ्कित करने भी सीख लिये।

इस के बाद उन्होंने यह पसन्द किया कि केवल रङ्ग लगाने की अपेक्षा पत्तियां, वृक्षों की छालों, पशुचर्मों से शरीर को जहाँ-तहाँ से ढक लिया जाय जिससे चाहे जब ये आवरण उतार दिये जायँ और चाहे जब बदल लिये जायँ। इस समय तक गुप्ताङ्ग की तरफ़ किसी का ध्यान न था। पुरुष और स्त्रियाँ प्रायः टाँग, सिर एवं गर्दन को विविध वस्तु लपेट कर ढकते और सजाते थे। गुप्ताङ्गों को प्रायः खुला छोड़ देते थे। परन्तु शीघ्र ही उन्होंने देखा कि शरीर में उपस्थेन्द्रिय अधिक कोमल हैं, और उनकी रक्षा की खास तौर से आवश्यकता है। इस के सिवा मलमूत्र विसर्जित करना भी एक ऐसी आवश्यकता थी जिसे मनुष्य विचारशील होने के कारण एकान्त में करना उचित समझने लगे। सर्वत्र मल-मूत्र विसर्जन करने से घृणा उत्पन्न होने का भय था। फिर उन अंगों को शुद्ध करना भी

आवश्यक था। इन सभी बातों के कारण इन अंगों को गुप्त रखने-ढकने आदि की तरफ मनुष्य समाज का ध्यान बढ़ चला।

लज्जा अब तक उत्पन्न नहीं हुई थी, पर यह बात अनुभव से देखी गई कि इन अवयवों को यत्न से ढकने पर काम के वेग की उत्तेजना मिलती है। इस अनैसर्गिक उत्तेजना के प्रादुर्भाव ने स्त्री-पुरुषों में गुप्तांग को यत्नपूर्वक ढकने की रीति के साथ ही लज्जा का भी समावेश कर दिया। इसके बाद ही वस्त्रों की कड़ी आवश्यकता ने वस्त्रों का आविष्कार कर दिया और मनुष्य जाति सभ्यता के युग में एक कदम आगे बढ़ी।

सभ्यता के इस प्रथम चरण काल में स्त्रियों का स्थान पुरुषों से श्रेष्ठ था, तथा शारीरिक बल में वे पुरुषों के समान थीं। आज ब्रिटिश कोलम्बिया के आदिम निवासियों की स्त्रियां पुरुषों के समान ही शिकारणी होती हैं। तस्मानिया में मछली पकड़ने और ऊँचे-ऊँचे दरख्तों पर चढ़ने में पुरुष स्त्रियों का मुकाबला नहीं कर सकते। प्रायः पृथ्वी भर में प्राचीन जातियों की स्त्रियां आवश्यकता पड़ने पर युद्ध में लड़ी हैं। काँगो प्रदेश की जङ्गली जाति की स्त्रियां पुरुषों के समान ही मजबूत होती हैं, और उतना ही बोझा ढो सकती हैं। उत्तर अमेरिका और न्यूगाइना की असभ्य जातियों की स्त्रियां आज भी दो पुरुषों के बराबर काम करने की शक्ति रखती हैं। अरब, तुर्किस्तान और रूस की अर्धसभ्य जातियों की स्त्रियां पुरुषों के बराबर कद्दावर और पूरी शक्तिवान होती हैं।

यह हुई शरीर सम्पत्ति की समानता की बात। अब उपयोगिता को लीजिये। उपयोगिता की दृष्टि से प्राचीन काल में

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ बढ़ी-चढ़ी थीं। पुरुष केवल शिकार मारने, मछली पकड़ने एवं युद्ध करने के उपयोगी थे परन्तु स्त्रियाँ सभ्यता के सभी आवश्यक पदार्थों का जो आगे चलकर उद्योग-धन्धे और व्यापार के विशाल रूप में परिवर्तित हुए, एक मात्र अभिभावक थीं। मकान बनाना, चटाई बनाना, चमड़े के वस्त्र तैयार करना, भोजन पकाना, खेती करना, नाव बनाना, सूत कातना, कपड़े बुनना और बर्तन बनाना आदि सारे ही धन्धे उस युग में स्त्रियों को करने पड़ते थे। धीरे-धीरे स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक चतुर, सहिष्णु और कर्मठ होने के कारण युद्ध और आखेट से हटकर अपनी पूर्ण शक्ति से उपरोक्त कला-कौशल में लग गईं। कला-कौशल पर उनका पूर्ण प्रभुत्व हो गया। चूँकि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक शान्तिप्रिय थीं, इस कारण वे धीरे-धीरे घरेलू होती गईं। मानवीय सभ्यता ने इस प्रकार दूसरे युग में प्रवेश किया।

परन्तु कृषि और कला-कौशल ने मनुष्य-समाज को स्थायी रूप से एक स्थान पर रहने को विवश किया। उन्होंने घर बनाये, पर धीरे-धीरे अधिकाधिक पक्के स्थायी और विशाल होते गये और चूँकि एक जगह बैठकर विविध कारीगरी की वस्तुएँ बनाना स्त्रियों का कार्य था, वे घरों में अधिक देर तक स्थिर रहने लगीं। पुरुष अब भी शिकार और युद्ध के उपयोगी थे। इसलिये वे भ्रमणशील बने रहे फलतः स्त्रियाँ पुरुषों से शरीर सम्पत्ति में दुर्बल और कोमल बनती गईं, साहस के कार्यों की कमी से वे भावुक होने लगीं।

मातृत्व अर्थात् प्रसव की स्वाभाविक विशेषता ने उन्हें और भी कमजोर बना दिया। इस प्रकार स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा

धीरे-धीरे कमज़ोर और घरेलू बनने लगीं, इस युग में बराबर युद्ध होते थे और अब वे केवल पुरुषों के हाथ में ही रह गये थे। इस प्रकार पुरुष स्त्रियों के रक्षक बन गये। स्त्री और पुरुष अब दो भिन्न-भिन्न धाराओं में थे, घर और बच्चों को सँभाल स्त्रियों पर ही थी। सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी स्त्री को ही प्राप्त था। इससे वे और भी घरेलू बन गईं, यह सभ्यता का तीसरा युग था।

अब विस्तृत समाज का विस्तार हुआ। नगर बनने और बसने लगे। युद्धों की अपेक्षा नागरिक जीवन अधिक पसन्द किया जाने लगा, पुरुषों ने राष्ट्रों का निर्माण किया। उद्योग-धन्धों ने व्यापार से मिलकर उनमें नया चमत्कार पैदा कर दिया। धीरे-धीरे साधारण युद्ध बन्द हुए, पर पुरुष जो बलवान और उद्दण्ड बन गये थे और स्त्रियाँ जो परिश्रमी और सहिष्णु बन गई थीं, तथा शरीर सम्पत्ति खो चुकी थी, उनका परस्पर का सम्बन्ध असमान हो गया। पुरुष स्त्रियों का स्वामी बन गया; और स्त्रियाँ अपने सौजन्य और स्वभाव की मृदुता के कारण पुरुषों के आधीन हो गईं। स्त्रियों का अब एक यह काम भी प्रधान हो गया कि वे पुरुषों को अधिक आराम दें। अब पुरुषों ने स्त्रियों का स्थिर सम्बन्ध होना भी आवश्यक हो गया और विवाह-सूत्र की रचना हुई। तब स्त्री पत्नी, और पुरुष पति बना, पति-पत्नी का नैतिक सम्बन्ध बहुत काल तक ऐसा रहा जिससे स्त्रियों को सम्मानयुक्त अधिकार और मनुष्योचित एवं नागरिक स्वातन्त्र्य प्राप्त था। यह सभ्यता का चौथा युग था।

परन्तु प्रभुत्व किसी का भी बुरा होता है। पुरुष के प्रभुत्व के आगे स्त्रियों का सिर झुका कि झुकता ही चला गया। उसके

जीवन क्रम ने उनकी शारीरिक और मानसिक विकास शक्ति को दबा दिया, अन्ततः स्त्रियाँ पुरुषों की सम्पत्ति बन गईं। ऐसी दशा में वे अधिक सावधानी से रक्खी जाने लगीं। एक-एक पुरुष अनेक स्त्रियों का स्वामी बन गया। वह उन्हें बेच सकता, गिरवी रख सकता था। जुए में दाव पर लगा सकता, एवं मरने पर उन्हें जीवित अपने साथ चिता पर जला सकता, कब्र में गाड़ सकता था। यह भयानक एकाधिपत्य स्त्री, माता, पुत्र, परिजन आदि में फट पड़ा, सर्वत्र स्त्रियाँ भयानक रूप से पुरुषों की ऐसी सम्पत्ति बन गईं जिनका कोई स्वतन्त्र जीवन ही न था। सम्पत्ति और पुत्रियों का पति के घर जाना इन दो विषम घटनाओं ने स्त्रियों की तरफ से पुरुषों को और भी सतर्क कर दिया और उनके अधिकार बड़ी कड़ाई और दूरदर्शिता से संकुचित किये जाने लगे। जब स्त्रियों की ऐसी पतित दशा हो गई तो उनका सम्मान भी जाता रहा। वे एक प्रकार से बिना उज्र आज्ञाकारिणी दासियाँ बन गईं। तब समाज ने उनका नैतिक तिरस्कार करना शुरू कर दिया। पुरुषों की आत्मिक उन्नति में स्त्रियाँ बाधक समझी जाने लगीं। पुरुष को पुण्य से खींच कर नरक में ले जाने वाली स्त्रियाँ समझी जाने लगीं।

बड़े-बड़े नीतिकार और पण्डितों ने निर्लज्ज बनकर यहाँ तक कह डाला कि वे स्वभाव ही से अविश्वासिनी, चरित्रहीन, चंचल और मूर्ख होती हैं, इन्हें सदा डण्डे के जोर से रखना चाहिये, ये कभी स्वतन्त्र न होने पायें। पृथ्वी भर की सभी जातियों ने तथा भारत, चीन, जापान, रोम, ईरान, यूनान ने स्त्रियों के विषय में एक ही राय गढ़ ली कि उन्हें सदैव दबा [illegible]। जापान की संस्कृति में स्त्रियों के लिये कड़ा पहरा है।

ुद्ध ने अपने शिष्यों को स्त्रियों का मुख तक देखने की
दी थी। मनु महाराज उन्हें खूब कड़ाई से वश में
सम्मति देते हैं। भगवान दत्तात्रेय तो उन्हें मदिरा ही
तुलसीदास जी कहते है उन्हे ढोल की तरह पीटना
वे अन्धे, काने, कुबड़े, अपाहिज, कोढ़ी, कामी, लुच्चे,
ार के पति को स्त्री का पूज्य बताते हैं। उनकी राय
ऐसे बदमाश और योग्य पतियो का अपमान करने पर
ारक को जाती है।
ह कहते है—स्त्रियों को अपने-आपको उसी प्रकार
समर्पण करना चाहिये, जैसे परमेश्वर को क्योंकि
का स्वामी है। मुहम्मद साहब फर्माते हैं—स्त्रियाँ
दुर्बलता है। शेक्सपियर कहता है—ओ, व्यभिचारिणी
ा ही स्त्री है। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहार
:—ऐसी कोई बुराई नहीं जो स्त्रियाँ न कर सकती हों।
ौर पूज्य पुरुषों के इन विधानों ने स्त्रियों के समस्त अधि-
न लिये, और स्त्रियों को दबाकर छिपाकर हर तरह
रखने की पूरी-पूरी चेष्टा सब तरफ से की जाने लगी।
पता का पाँचवाँ युग था।
ह ढकना या पर्दा, इन्हीं अन्यायपूर्ण बातों के आधार पर
हुआ। यद्यपि प्राचीन असभ्य जातियों में भी मुख ढकने
हरण पाये जाते हैं। न्यूगाइना टापू की आदिमजातियों
वला होने के बाद से विवाह होने तक लड़कियों का मुख
ो पत्तियों से ढक दिया जाता था, और सिवा निकट
यों के उनसे कोई नहीं मिल सकता था। त्रिमिदा में
ा पर्दे में रक्खी जाती थीं, और स्त्रियों के सिवा उनके

पास कोई नहीं जा सकता था। यही बात, जापान, काकेशस, उत्तरी अमेरिका की असभ्य जातियों में भी थी। आयुर्वेद में भी रजस्वला के लिये ऐसे ही कठोर आचरण लिखे हैं। हम नहीं जानते कि इन सब बातों का वैसा अद्भुत प्रभाव पड़ता है या नहीं, जैसा कि वहाँ लिखा है, परन्तु रजस्वला को अपने पति तक का मुँह देखने का निषेध आयुर्वेद में है।

यह अस्थायी पर्दा मालूम होता है। नवीन आवश्यकताओं ने उसे स्थायी बना दिया। एक रोमन लेखक का कहना है कि प्राचीन काल में यूनानी लोग स्त्रियों को पर्दे में रखते थे। उन्हें निमन्त्रण या मेलों में जाने का निषेध था और न वे अन्य पुरुषों से मिल सकती थीं। प्रसिद्ध रोमन विद्वान् प्लिनी, जो मसीह से तेईस वर्ष बाद पैदा हुआ था, एक घटना का वर्णन करता है कि एथेन्स के नागरिकों का चरित्र भ्रष्ट करने के अपराध में एक सुन्दरी पर अदालत में मुकदमा चलाया गया। जब उस पर विचार होने लगा तो उसके वकील ने हठात् उसके मुँह का पर्दा हटा दिया। उस समय असाधारण सौन्दर्य के कारण ही उसे निर्दोष मान लिया गया और छोड़ दिया गया। मन्चूरिया, मंगोलिया और चीन में स्त्रियाँ पर्दे में रहती थीं। कोरिया में यह रिवाज था कि रात्रि में एक घण्टा बजता था, तब सब पुरुष घरों में घुस जाते थे, और स्त्रियाँ बाहर निकल आती थीं। दिन में यदि निकलना होता तो उन्हें एक बुर्का पहनना पड़ता था। चीन और कोरिया में विवाह-वेदी पर कन्या घूंघट निकाल कर आती थीं।

वाल्मीकि रामायण और महाभारत में ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि प्रतिष्ठित स्त्रियाँ उस काल में पर्दा

करने लगी थीं। वे आम तौर से बाहर नहीं आती थीं। शकुन्तला भी घूँघट काढ़ कर दुष्यन्त के दरबार में गई थी। ये सारे प्रमाण ईसा के जन्म के लगभग भारत की पर्दा-प्रथा को प्रकट करते है।

ईरान पहले अनेक सरदारों में विभक्त था। वे परस्पर लड़ते और एक दूसरे की सुन्दरी स्त्रियों को छीन कर उन्हें कड़े पहरे में क़िलों में रखते थे। धीरे-धीरे ये क़िले हरम बन गये। खोजों की उत्पत्ति भी ईरान से ही हुई है। यह बात मुहम्मद साहब के जन्म से पहले का है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ बुखारी का कहना है कि अरब में पर्दा न था, उसका चलन चङ्गेज़ खाँ ने चलाया जो मङ्गोल था, और बौद्धमतवादी था। टर्की में भी मङ्गोलों के कारण पर्दा चला। मङ्गोलों ने अरब, ईरान और स्पेन तक अपने राज्य क़ायम किये थे। मिस्र की स्त्रियाँ नाक के नीचे मुँह ढकती थीं और बातें सबसे करती थीं। जापान और इङ्गलैण्ड में भी एक शताब्दी पूर्व तक स्त्रियों के पर्दे का ख्याल रक्खा जाता था। वेद का मत भारतीय दृष्टि से सबसे बड़ा महत्व रखता है। वेद आर्यों के प्रारम्भिक उत्कर्ष का द्योतक है। ऋग्वेद से यह पता लगता है कि उस काल में आर्य पर्दा नहीं करते थे। विवाह काल में वर-वधू स्वयंम् वचन आवद्ध होते थे। विवाह-पद्धति इस विषय की साक्षी है। पर भारत में पर्दा दो हज़ार वर्ष के लगभग से किसी न किसी रूप में रहा है, यह बात हम स्वीकार करते हैं और यह बात हमें स्वीकार करनी पड़ेगी कि कवि ने अपनी भाषा में यदि किसी प्राचीन कथा का वर्णन किया है तो उसमें उसने अपने काल की सभ्यता का पुट तो अवश्य ही दिया है। जैसे कालिदास, शकुन्तला को घूँघट में छिपी हुई लिखता है, जिससे प्रकट होता है कि उस समय

स्तान के साहसी राजा ने पीढ़ियों से पर्दे की अभ्यस्त महारानी को सारे यूरोप में स्वच्छन्द वायु लगने के लिये उन्मुक्त करके संसार को चकित कर दिया। और उस सिद्धान्त के लिये पैतृक सिंहासन को भी लात मार दी। चीन और कोरिया की स्त्री-समाज ने पर्दा चीर कर देश की स्वाधीनता के युद्ध में बराबरी का भाग लेना शुरू कर दिया है। सीरिया में सहस्रों वर्ष की पिछड़ी जातियों ने पर्दे की विनाशकारी कुप्रथा को कुचल डाला है, फिर भारतवर्ष की माताओं पर यह जुल्म कब तक? बालिकाओं पर यह जुल्म कब तक? पत्नियों और बहिनों पर यह जुल्म कब तक होता रहेगा?

ऐ, देश के बुद्धिमान पुरुषो! यदि तुम देश की रक्षा करने वाले फौलादी बच्चों की नस्ल चाहते हो तो उन बच्चों की इन पर्दे की बेड़ियों में बँधी माताओं से आशा न करो। तुम्हारे बुजुर्गों ने नाहर के जैसी छाती और तप्त अंगारे जैसी आँखें, सूर्य के समान मुख, व्याघ्र के समान कमर और हाथी के जैसी चाल वाले बच्चे पैदा किये हैं। वैसे बच्चे तुम उन औरतों से पैदा किया चाहते हो; जिन्हें तुमने बम्बई, कलकत्ते के घृणित, अँधेरे, गन्दे जेलखानों में जीवन भर के लिये बन्द रक्खा है! पतली चपातियाँ तब हज़म कर सकती हैं जब डाक्टर का डेढ़ रुपये का नुस्खा पी लें। अरे, तुम्हारे वंशनाश के लिये तो यह बाल-विवाह ही काफी था। इन बचपन में जबर्दस्ती पाल में पकाई हुई अभागिनी स्त्रियों को जिन्हें निर्दयता और मूर्खता से इन बड़े शहरों की जेल जैसी हवेलियों में बन्द कर दिया गया है, क्या आवश्यकता थी? यह तो समस्त जाति के आत्म-घात की तैयारियाँ हैं।

प्यारी माताओ और बहिनो! ये मर्द कहते हैं कि तुम स्वयं

पर्दे को छोड़ना नहीं चाहती हो, क्या यह सच है ? तुम कि
अपराध में जन्म कैद भुगत रही हो ? किस पाप के बदले जब
रहते गूँगी बनी हो ? उठो, तुम देश के बच्चों की माँ हो,
चाहता है कि तुम नाहर बच्चे पैदा करो, देश को नाहर बच्चों
जरूरत है। तुम इस पर्दे को स्वयं चीर कर फेंक दो। और नयी
जीवन और नई शक्ति के रूप में हमारे सम्मुख प्रकट होओ।

बच्चों का पालन कुसंस्कारों और रूढ़ियों के कारण ऐ
गर्हित हो गया है कि अपने जन्म के बाद पहले ही वर्ष में प्रत्ये
तीन बच्चों में एक मर ही जाता है। भारतवर्ष के बच्चे पशु
और कीड़ों से किसी भाँति श्रेष्ठ नहीं समझे जाते। एक बा
कृष्णमूर्ति ने एक व्याख्यान में कहा था—

"भारतवर्ष में बच्चे किस भाँति खुश रह सकते हैं। मैं तु
से अपने ही बचपन की तरफ ख्याल करने को कहता हूँ, मैं नहीं
कह सकता कि मेरा बचपन सुखपूर्ण था। मैं अपने माता-पिता के
विरुद्ध कुछ नहीं कह सकता। क्योंकि जो कुछ हुआ वह प्राचीन प्रथ
के अनुसार चलने का फल था। भारतवर्ष में बच्चे जितनी बुरी
हालत में रहते हैं, संसार के और किसी देश में वे वैसे नहीं रहते।
भारतवर्ष में बच्चा सब से अभागा प्राणी है। न उसका कोई
अलग स्थान है और न चित्त विनोद का कोई साधन। वह जब
चाहता है सो जाता है। बच्चों की देख-भाल का कोई खयाल
नहीं रखता। तुम और मैं इन बातों को भली-भाँति जानते हैं।
यह सच है कि जाहिर में बच्चों को बहुत प्यार किया जाता है।
बच्चों के कल्याण के लिये उस प्यार में कोई नियम नहीं।''......
बच्चा गन्दगी, कीचड़ और धूल में रह कर बड़ा होता है। मेरा

पर अब अगर मेरे लिये ऐसा अवसर आये तो मैं हिचकूँगा, कि अमेरिका और योरोप में बच्चे जैसे प्रसन्न रहते हैं र तुमको ख्याल भी नहीं है। बचपन ही वास्तव में आनन्दित का समय है! क्योंकि बड़े होने पर हम उसकी याद किया हैं। आजकल भारत में चारों तरफ जैसी निन्दनीय बातें हुई हैं इनके बीच में रह कर बच्चा कैसे खुश रह सकता है

कन्यायें सन्तान रूप कलंक हैं; यह भावना हिन्दुओं नीच प्रकृति की परिचायक है। राजपूत लोग घमण्ड से करते हैं कि हम किसी को दामाद न बनायेंगे और इसलि जन्मते ही कन्याओं को मार डाला करते थे। और अब भी लोग ऐसा करते हैं। जाटों में भी ऐसी ही प्रथा प्रचलि और यह तो मानी हुई बात है कि लड़की पैदा होते ही वालों के मुँह लटक जाते हैं; मानो कोई बड़ा भारी अप हो गया हो। लड़कियाँ बहुधा घरों में अवज्ञा और अपम पला करती हैं। बहुत-सी कन्यायें बाल्यकाल में मर जाती बंगाल में अनेक कन्यायें दहेज की कुप्रथा के कारण जल है। ऐसी हत्याओं की कथा ऐसी करुणापूर्ण है कि उन कमीने माता-पिताओं तथा जाति बन्धनों के प्रति बिना घृणा पैदा हुए नहीं रह सकती। प्रायः लड़कियों को ध्य समय भी मरने की गाली दी जाती है, पर बेटे के लिये कहना घोर पाप है।

पशुओं के पालन सम्बन्धी अज्ञान हमारा सामाजिक है, बहुत से उपयोगी पशुओं से तो हम कुछ लाभ उठा ही सकते। भेड़ें, बकरियाँ, मुर्गे, मुर्गी आदि जानवरों को पालने तो धर्म की ही आज्ञा नहीं। हम दूध के पशु पालते हैं,

न्दों को पालते हैं तथा सवारी और खेती के पशुओं को पालते
परन्तु इतने निकृष्ट ढंग से कि उसे महामूर्खता कहा जा
सकता है।

प्रायः बछड़े और अधमरी गायें गली-गली भटकती दीख
ती है। कहने को हम बड़े भारी गो-भक्त हैं पर गो-भक्ति की
तलियत तो हमारी गोशालाओं की दशा को देखने से खुल
ाती है। जैसा कष्ट पशु-पक्षी हमारे घरों में पाते हैं वैसा कष्ट
ांसाहारी लोग भी पशुओं को नहीं देते। किसी प्राणी को धीरे-
ीरे बहुत दिनों तक कष्ट देकर मार डालने की अपेक्षा एक-
म खतम कर देना कम निर्दयता का काम है।

बहुधा गायों के बच्चे असावधानी से मर जाते हैं। और
उनकी खालों में भुस भरवा कर उनके सामने रखकर दूध दुहा
जाता है। प्रायः बच्चों को कुत्ते फाड़ खाया करते हैं।

एक समय था कि साधारण गृहस्थियों के पास भी हजारों
की संख्या में गायें रहती थीं। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व कालामन के
काल में गौ १० पैसे की, और बछड़ा ४ पैसे का मिलता था।
बैल की कीमत ६ पैसा थी, भैंस ८ पैसे में आती थी। और दूध
१ पैसे में १ मन आता था, इसके २०० वर्ष बाद मसीह से ३००
वर्ष पूर्व जब भारत पर सम्राट चन्द्रगुप्त शासन करते थे घी
१ पैसे का २ सेर और दूध २५ सेर मिलता था। ईसवी सन् के
शुरू में ४८ पैसे की गाय, ६३ पैसे का बैल मिलता था। ५ वीं
शताब्दी में विक्रमादित्य के राज्य में गौ ८० पैसे में और बैल
५१२ पैसे में मिलता था। अलाउद्दीन के जमाने में घी का भाव
दिल्ली में ७४ पैसे मन था और अकबर के जमाने में १६५ आने
मन।

यह वह जमाना था जब दूध वेचना पाप समझा जाता था। नगर वस्तियों के बाहर घने वन थे और उनमें गाय स्वच्छन्द चरा करती थीं। उन दिनों दीर्घायु नीरोगी-काया और दुर्धर्ष वल शरीर में रहता था, आज वे दिन न रहे। आज हमारे दुधमुँहे वच्चों को भी एक बूँद दूध मिलना दुर्लभ हो रहा है। आस्ट्रेलिया की आवादी ४ लाख है और गायें १२ करोड। पर भारत के ३४ करोड़ नर नारियों में सिर्फ ४ करोड़। भारत में प्रति वर्ष ४० लाख गाय-बैल काटे जाते हैं। जिनमें केवल दो लाख भारतीय मुसलमानों के काम आते है। शेष ३८ लाख की खपत देश के बाहर होती है। इस हत्या से घी दूध ही नहीं अन्न की पैदावार भी कम हो रही है, जङ्गल साफ़ हो रहे हैं जमीनों के रक़बे बढ़ रहे हैं परन्तु मजबूत गाय बैलों की देश में बराबर कमी हो रही है।

पशुओं का घर में वही स्थान होना चाहिए जो घर में बच्चों का होता है। पशु पालना दया के ऊपर निर्भर नहीं प्रेम के ऊपर रहना चाहिये। परन्तु हमारी पशु दया की रूढ़ि है, हममें त्याग नहीं।

अब हम छोटी-छोटी कुछ कुरीतियों का दिग्दर्शन करके इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

संस्कारों को ही लीजिये, उपनयन, कर्णवेध, मुण्डन, आदि सर्वत्र ही कुरीतियों का दौर-दौरा है। एक नाटक-सा करके इन संस्कारों की रस्में पूरी की जाती हैं।

ग़मी होने पर बिरादरी भोज एक विचित्र और घृणास्पद बात है। घर वालों के आँसू बह रहे हैं और पुरोहित और बिरादरी तर माल उड़ा रहे हैं। पुरोहित की बन आती है, मृतात्मा की सद्गति के बहाने गोदान, शैयादान, न जाने क्या-क्या दान

मजदूर और किसान थे। देश की यह ९० प्रतिशत जनता निरीह दरिद्र और सब भोगों से वंचित थी। तब एक बात अवश्य थी, जीवन-निर्वाह की सामग्रियों का अभाव न था, काम चल जाता था।

कालचक्र घूमता गया। विदेशियों का आगमन भी हुआ मिश्रण भी हुआ। इस्लाम की तलवार का रस भी चखना पड़ा और अपने पाप के बोझ को भी ढोना पड़ा।

आज भारत से राज-सत्ता समाप्त हो गई। जन सत्ता का उदय हुआ, आज सब कुछ हमें नवीन ढंग से करना पड़ेगा। नई संस्कृति, नया जीवन, नया दृष्टिकोण बनाना पड़ेगा, तभी सच्चा जनतन्त्र भारत में पनप पायेगा। तभी हमारे राष्ट्र का नव-निर्माण हो पायेगा।